आत्मशुद्धि

श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य
पूज्य स्वामी श्री ईश्वरानन्द गिरिजी महाराज
द्वारा प्रदत्त प्रवचनों पर आधारित

तन्मयो भवेत्

संवित् साधनायन
सन्त सरोवर, आबू पर्वत

प्रकाशक :
संवित् साधनायन
सन्त सरोवर, माउण्ट आबू
राजस्थान - 307 501 (भारत)

© प्रकाशक

प्रायोजक :
श्रीमती उमादेवी गिरधारीलाल सराफ परिवार, अहमदाबाद

प्रथम संस्करण :
श्री गुरुपूर्णिमा, 2014

मूल्य : ₹ 60/-

मुद्रक :
विपुल प्रिन्टर्स, अहमदाबाद
फोन : 2562 2673

समर्पण

स्व. श्री गिरधारीलालजी रामगोपालजी सराफ
की पुण्यस्मृति में

श्रीमती उमादेवी गिरधारीलाल सराफ
एवं परिवार द्वारा
सादर समर्पित

प्रकाशकीय

सन् 2013, दिपावली महोत्सव के तुरन्त बाद दिनांक 6 से 10 नवम्बर पर्यन्त, पूज्यश्री स्वामीजी महाराज की अध्यक्षता में, सूरत में संवित् साधना शिविर का आयोजन हुआ था। शिविर विषय 'आत्मशुद्धि' पर पूज्यश्री स्वामीजी महाराज के अत्यंत ही प्रेरणादायी प्रवचन हुए थे। जीवन के हर पहलु को समावेश करते हुए ये प्रवचन सभी को इतने अधिक मननीय लगे कि इनको पुस्तकरूप में प्रकाशित करने का संवित् संकल्प हुआ।

सूरत के संवित् साधक श्री कांतिभाई लाभभाई पटेल एवं उनके परिवार ने शिविर का सारा व्यय-भार सहर्ष अत्यंत आत्मीयता से वहन किया। पूज्य स्वामी श्री धीरेन्द्रगिरिजी की स्फुरणा व प्रयास से सभी प्रवचन लिपिबद्ध हुये और उसी को हम यहाँ पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर रहें हैं।

श्रीमती उमादेवी सराफ एवं उनका परिवार स्वर्गीय श्री गिरधारीलालजी सराफ की पुण्य स्मृति में इस पुस्तक के प्रायोजक बने हैं।

इस संवित् यज्ञ में अपनी आहुति देने वाले इन सभी साधकों के प्रति संवित् साधनायन आभारी है।

— प्रकाशक

विषयानुक्रम

प्रकाशकीय	4
प्रवचन - 1	11
प्रवचन - 2	21
प्रवचन - 3	37
प्रवचन - 4	51
प्रवचन - 5	73
प्रवचन - 6	95
उपसंहार	120

आत्मशुद्धि सूक्तम्

1. **क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।**
क्षुद्रं हृदय-दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥

(2.3)

हे पार्थ ! तू नपुंसकता को मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं है । हे परन्तप ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर (युद्ध के लिए) उठ खड़ा हो ।

2. **कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।**
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

(5.11)

कर्मयोगी आसक्ति को त्याग कर केवल (अर्थात् ममत्व बुद्धि रहित) शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा भी अंतःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं ।

3. **योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।**
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

(5. 7)

जिसने देह पर विजय पा ली है, जो जितेन्द्रिय और विशुद्ध अंतःकरण वाला है और समस्त प्राणियों की आत्मा ही जिसकी आत्मा हो गयी है ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता ।

4. **तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।**
उपविश्यासने युञ्ज्याद्-योगमात्मविशुद्धये ॥

(6. 12)

उस आसन पर बैठ कर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अंतःकरण की विशुद्धि के लिए योग का अभ्यास करें ।

5. **योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना ।**
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(6. 47)

समस्त योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी मुझ में लगे हुए अंतरात्मा से मुझ को (निरन्तर) भजता है, वह योगी मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है ।

6. **येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।**
ते द्वन्द्व-मोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

(7. 28)

परन्तु (निष्कामभाव से) श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करने वाले जिन पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है, वे द्वन्द्व रूप मोह से मुक्त हुए (परमार्थ विषयक) दृढ़-बुद्धि वाले साधक मुझको भजते हैं।

7. **शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।**
सन्नयासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

(9. 28)

इस प्रकार संन्यास योग (जिसमें समस्त कर्म भगवान् को अर्पण किये जाते हैं) से युक्त चित्तवाला तू शुभ-अशुभ-फल रूप कर्म-बंधन से मुक्त हो जाएगा और उनसे मुक्त होकर मुझको प्राप्त हो जाएगा।

8. **मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।**
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(14. 26)

और जो पुरुष अव्यभिचारिणी भक्ति योग के द्वारा मुझे भजता है वह इन (तीनों) गुणों का अतिक्रमण करके ब्रह्म-रूप होने के लिए योग्य बन जाता है।

9. **तेषामेवानुकम्पार्थं अहमज्ञानजं तमः ।**
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

(10. 11)

उनके ऊपर कृपा करने के लिए उनके (निर्मल) अंतःकरण में स्थित हुआ मैं स्वयं उनके अज्ञानजनित (मोह) अंधकार को प्रकाशमान तत्त्वज्ञान रूप दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

10. **तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।**
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

(5 .17)

जो तदात्मा हैं (अर्थात् परब्रह्म ही जिनकी आत्मा है), जो तद्बुद्धि हैं (अर्थात् परमार्थ तत्त्व में जिनकी बुद्धि आ पहुँची है), जो तन्निष्ठ हैं (जो ब्रह्म में ही स्थित हैं), जो केवल परब्रह्म में ही रत हैं, ऐसे पुरुष ज्ञान के द्वारा पाप रहित होकर परम गति को प्राप्त होते हैं।

– श्रीमद्भगवद्गीता से संकलित

प्रवचन - 1

केवल धर्म के पथ पर चलने का जिसने निर्णय कर लिया है, वही संवित् साधक बन सकता है। परम सत्य, आत्म स्वरूप को ही हम संवित् कहते हैं। उसे लेकर चलने के लिए जो कटिबद्ध है वही संवित् साधक है। उनके लिए सर्व साधारण आज्ञा यही है कि **'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् —** यदि धर्म का आचरण करना चाहते हो तो यह समझ लेना कि 'मृत्यु मेरी चोटी पकड़ कर खड़ी है'। तभी धर्म का आचरण हो सकता है, अन्यथा नहीं। किसी को भी ज्ञात नहीं है कि मृत्यु कब आयेगी। अपने को कितना समय दिया गया है यह किसी को मालूम नहीं है।

अतः जो समय प्राप्त है उसका पूर्णरूपेण उपयोग कर लेना चाहिए।

समस्त संवित् साधना का आधार 'आत्म-शुद्धि' में है। यह एक बुनियादी किन्तु व्यापक साधना तत्त्व है। इसके बारे में जितना भी चिन्तन करें वह अपर्याप्त है। शौचाचरण जैसा होना चाहिए वैसा इस युग में, इस समाज में होना असम्भव सा हो रहा है। बाहर की संस्कृति, प्रथाएँ और प्रचार समाज को इतना दूषित कर दिया है कि साधारण जन-समाज यह जानते ही नहीं हैं कि शौच क्या होता है। बाहर के देशों में झूठे भोजन की कल्पना ही नहीं है। वही पाश्चात्य संस्कृति को मीड़िया के विविध अभिव्यक्तियों के माध्यम से हम रात-दिन ग्रहण करते आ रहें हैं। अपनी अगली पीढ़ी की क्या दशा होगी यह सोचने से ही दिल घबरा जाता है।

शारीरिक शुद्धि (स्थूल शुद्धि), व्यावहारिक शुद्धि, विचार की शुद्धि, ज्ञान की शुद्धि, ये सब आत्म शुद्धि के

विविध स्तर हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म समाधि भी एक शुद्धिकरण ही है। धर्माचरण का प्रारम्भ शौच से ही होता है। शुद्धि के बिना कोई लौकिक कार्य भी नहीं होता है। यदि भोजन बनाना है तो भी पहले बर्तन, चावल आदि को स्वच्छ करना एक प्रारम्भिक प्रक्रिया होती है। डॉक्टर शल्यचिकित्सा करने के पहले रोगाणुमुक्त हस्तकवच और अन्य उपकरण तैयार करते हैं। हमारा धर्म केवल क्रियात्मक ही नहीं, अपितु सारा जीवनात्मक है। हमें धर्म को जीवन के सभी अनुभूतियों से जोड़ना है। इसलिए धर्म के लिए शौच प्रथम सोपान है।

प्रत्येक वस्तु के स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण, तीनों स्तर पर ऋषियों का चिन्तन है। इसलिए वस्त्र, केशकलाप आदि बाह्य बातों में भी ऋषियों का मन्तव्य होता है कि धर्म के अनुसार इस-इस प्रकार के कपड़े और केश रखना उचित है। केश में भी बड़ी ताकत है, 'साईकिक पावर' है। इसलिए केश बहुत अच्छा है और उसे सुरक्षित रखना भी चाहिए। किन्तु बाल काट दिया जाता है तो उसे अमंगल

माना गया है। यह दृष्टि ऋषि ही देते हैं। बाल काटने के बाद स्नान करना अनिवार्य है। यह ज्ञान नहीं होने से आजकल लोग बाल काटने के बाद सीधे ही भोजन करने बैठ जाते हैं। ये सब नियम आचरण में आने चाहिए। नाखुन को चबाना बहुत खराब आदत है, किन्तु आजकल यह एक फैशन सा हो गया है। लघुशंका, दीर्घशंका आदि के बाद पानी से शौच करना जरुरी है। किन्तु आजकल इसका भान ही नहीं रहता है। पाश्चात्य देशों में शौच में पानी उपयोग में नहीं लेते हैं। कागज (टिश्युपेपर) से काम चलाते हैं। उसका हम भी अनुकरण कर रहे हैं। स्नान न करके सुगन्धित द्रव्यों का स्प्रे करने से बदबू तो दब जाता है, किन्तु बदबू को दबाने से शुद्धि तो नहीं होती है।

ऐसी ही बहुत सी अशुद्धियाँ हम जाने अन्जाने करते ही रहते हैं क्योंकि हम उसे गम्भीरता से लेते नहीं हैं। यदि हम इसी जन्म में अपना जन्म सफल करना चाहते हैं तो कुछ विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है। **'जीवन-मुक्ति-सुख-प्राप्ति-हेतवे जन्म धारितम्',** यह हमारे आचार्यों की

धारणा है। मनुष्य-शरीर मुक्ति के लिए मिला है और यह लक्ष्य अभी प्राप्त करना है। इसी जन्म में हमें अमृत प्राप्त करना है। अमृत-पथ के साधक बनने के लिए हर प्रकार के जहर को दूर रखना चाहिए। शास्त्रकार बहुत सोच समझकर विधान करते हैं। कभी कहीं कठोर विधान करते हुए भी वे बहुत करुणामय होते हैं। ये विधान बहुत व्यापक हैं, विशाल एवं विज्ञान सम्मत होते हैं। आत्म सत्य के दर्शन में ही इन की औचित्यता सिद्ध होती है।

हम फैशन के प्रभाव में आकर इन विधानों के पीछे जो युक्ति है उसे भूल जाते हैं। सारे शौच का विधान करने के पीछे एक मात्र उद्देश्य आपके अन्दर वैराग्य उत्पन्न करना है। ज्ञान का सबसे कलुषित वैरी कामना है। कामना के मूल में देह है। इसलिए शौच का विधान करते हुए व्यासजी कहते हैं - **'स्वांगजुगुप्सा'** - अपने ही शरीर को सुन्दर मानना छोड़ देना। किन्तु अब तो शरीर के सुन्दरीकरण को ही जीवन का लक्ष्य मान लिया गया है। क्या शरीर सुन्दर हो सकता है ? क्या सुन्दर करने के लिए

ही शरीर प्राप्त हुआ है ? अतः यह विचारणीय है कि मनुष्य-शरीर किस उद्देश्य के लिए प्राप्त हुआ है। व्यासजी कहते हैं कि तुम्हारा शरीर ही अशुद्ध है, इसलिए हर काम में शुद्धि की बात करते हैं। यदि मानव शरीर शुद्ध, पवित्र, सुन्दर और वांछनीय है तो शौच का विधान ही नहीं होता। शरीर मूलतः अशुद्ध है, यह स्थापित करने के लिए व्यासजी 'युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं – '**स्थानात्, बीजात् आवष्टंभात्, स्यंतनात्, निधनातपि, कायमाधेय शौचत्वात् सदानिंद्यं विदुः बुधाः**'। यह शरीर जहाँ से प्रसूत होता है वह माता का गर्भ अपवित्र है ही। जिस बीज से यह शरीर कि उत्पत्ति होती है उस पिता के वीर्य को भी पवित्र नहीं मान सकते हैं। **'आवष्टंभात्'**, यह शरीर जिससे बना है वह मांस, हड्डी, रक्त, स्नायु आदि सब कुछ अपवित्र ही है। **'स्यंतनात्'**, इस शरीर से जो निकलता है, मल, मूत्र, पसीना आदि उनकी अपवित्रता के बारे में कहना ही क्या। गाड़ी की सर्विसिंग के जैसे शरीर का शुद्धीकरण रात को होता है। हरेक रोम-कूप से मैल निकलता रहता है।

इसलिए सोकर उठने के बाद स्नान किए बिना पूजा, दान, भोजन आदि नहीं कर सकते हैं। किसी से सभ्यता से मिल भी नहीं सकते हैं।

दूसरे विश्व युद्ध के समय चर्चिल को मिलने के लिये चीनी राजदूत को अनुमति दी गयी थी। एक दिन प्रातः 6 बजे ही चीनी राजदूत अपना तामझाम के साथ चर्चिल को मिलने पहुँचे। इग्लैण्ड के सामाजिक व्यवस्था के अनुसार इतना प्रातः समय किसी से मिलने के लिए जाना अनुचित था। अतः झुँझलाते हुए चर्चिल ने पूछा, ''यह किसी से मिलने जाने का समय है ?'' तो चीनी राजदूत ने निवेदन किया, ''हमारे यहाँ इसे बहुत अच्छा समय मानते हैं।'' पूर्व देशों में प्रातः 'ब्रह्ममुहूर्त' बहुत ही पवित्र माना जाता है, किन्तु पाश्चात्यों के लिए यह अपवित्र समय है!

यदि हम ऋषियों का बनना चाहते हैं तो उनके विचारों को अच्छी तरह समझना होगा। उन्हें समझे बिना

फेंक देना उचित नहीं है । "**सदा निंद्यं विदुः बुधाः —** विद्वान लोग सदा शरीर को अपवित्र समझते हैं ।" यह अत्यन्त अपवित्र है इसलिए शौच का विधान है; स्नान का, भोजन के बाद कुल्ला करने का, ये सब विधान हैं। किन्तु आजकल के तथाकथित सभ्य लोग भोजन के बाद कुल्ला क्या हाथ भी नहीं धोते। टिश्यू पेपर से पोंछ लेते हैं। किन्तु टिश्यू पेपर से सफाई नहीं होती है। एक आधारभूत नियम है कि '**मृत्जलाभ्यां शौचं —** जल और मिट्टी से सुचिता आती है' । समयानुसार जल और साबुन का उपयोग कर सकते हैं। जो टिश्यू पेपर से सफाई करते हैं उनके हाथ से भोजन का गन्ध तो नहीं जाता है। इस प्रकार के अत्यन्त असभ्य स्थूल मल को हम सहन करते जायेंगे तो फिर उच्च कोटि की साधना को समझने की बुद्धि नहीं होगी । उसे सुनने पर भी ग्रहण नहीं कर सकते ।

'अन्नमयं सौम्य मनः', हम जैसा अन्न ग्रहण करते हैं वैसा शरीर ही नहीं मन भी बनता है। शास्त्रों में इन सब बातों को लेकर जो विधान किया गया है उससे हमारे

व्यवहार में कोई भार या व्यवधान नहीं हो सकता है । अपितु व्यवहार और उत्कृष्ट होगा । केवल हाथ पैर धोने मात्र से शौच नहीं होता है — यह बात वेद बार-बार कहता है । एक बाहर का शौच है और एक अन्दर का भी शौच है। धर्म स्पष्ट कहता है कि अन्दर के शौच के बिना बाहर का स्नान आदि शौच निरर्थक है । धर्म बहुत विशाल है । आप जो करते हैं उसका परिणाम क्या हो रहा है, आप क्या बन रहे हैं, इन सब बातों का ध्यान रखा जाता है। ऐसा एक युक्तिपूर्ण शास्त्र-वचन में श्रद्धापूर्ण विचार को जाग्रत रखेंगे तो आत्म शान्ति प्राप्त होगी ।

ॐ

ॐ आत्मा मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासग्ं स्वाहा ।

ॐ अन्तरात्मा मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासग्ं स्वाहा।

ॐ परमात्मा मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासग्ं स्वाहा ।

प्रवचन – 2

आत्म शुद्धि के ऊपर चिन्तन करते समय यद्यपि हमारा प्रामाणिक आधार तृतीय प्रस्थान श्रीमद्भगवद्गीता रहेगी, तथापि अवश्य ही उपरोक्त वैदिक विरजा मन्त्र से प्रेरणा लेंगे । स्पष्टतया यह आत्म शोधन का मन्त्र है। साधक जब संन्यास लेता है तब यह प्रार्थनारूपी, दृढ़ संकल्प-रूपी मन्त्र का उच्चारण करते हुए साधना के उच्चतम श्रेणी में आरोहित होता है । हमने देखा था कि अत्यन्त स्थूल लौकिक स्तर में भी संस्कृति का, विकास का प्रारम्भ ही शुचि से होता है और शिखर पर आकर भी वही शुद्धि की प्रक्रिया है। साधक संन्यास लेकर महावाक्य

का श्रवण करता है । **तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, अहंब्रह्मास्मि, प्रज्ञानं ब्रह्म,** आदि सभी महावाक्य शुद्धि मन्त्र ही हैं। सारे वेद– वाक्य मुख्यतया यही बतलाते हैं कि तू ब्रह्मस्वरूप है, तू अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप है। वेद को श्रुति भी कहते हैं। श्रुति माने सुनने लायक। साधक सुनने के लिए तैयार होगा, समझने के लिए योग्य होगा, तभी वेद सुनाया जाता है । भाष्यकार कहते हैं – ''**वत्सलतरा श्रुतिः —** माँ से भी बढ़कर श्रुति कृपामयी है।''

सारी सृष्टि कोई पागल की नहीं है अपितु एक अचिन्त्य महिमा वाली चेतना की है । इस बात को आजकल के वैज्ञानिक भी मानते हैं। गुरु की श्रद्धा है कि वह शिष्य सत्य को समझने में योग्य है। इसी के प्रतिफलन रूप से शिष्य के अन्दर भी श्रुति में श्रद्धा पैदा होनी चाहिए। यह दिव्य वाणी कहीं बाहर से नहीं, अपितु अन्दर से ही आ रही है। चेतना का एक तीव्र मानसिक संकल्प है कि ''मैं मरना नहीं चाहता हूँ, मैं कभी नहीं मरुँगा''। कोई

सोच भी नहीं सकता कि ''मैं मिट गया''। कोई भी यह नहीं कह सकता कि ''मैं नहीं हूँ।'' वह कथन ही उसके अस्तित्व को प्रकट करता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आत्मा अमर चैतन्य है। इसका निषेध कभी भी किसी के भी अनुभव में नहीं आ सकता है। भले ही कोई कल्पना कर ले। इस अमरत्व की पिपासा को लेकर यह प्रार्थना सहज ही सिद्ध हो रही है।

''मैं अमर हूँ'', यह सिद्ध होने पर भी चारों ओर मृत्यु का ही अनुभव क्यों हो रहा है ? जहाँ कहीं भी देखते हैं मृत्यु का ही दर्शन क्यों हो रहा है, अमरत्व का अनुभव क्यों नहीं आता ? क्योंकि देखते ही देखते रूप मिट जाता है। '**अनृतेन प्रत्यूढाः —** सत्य असत्य से ढक सा गया है'। आत्मा जैसा है वैसा अनुभव नहीं हो रहा है — यही आत्मा की अशुद्धि है। जैसा है वैसा अनुभव करना शुद्धि है। कालान्तर में सुन्दर चमकिला ताँबे का कलश काला हो जाता है। उसमें अशुद्धि आ जाती है। अब मार्जन करके उसे जैसा था वैसा बनाना है — इसे ही शुद्धि कहते हैं।

आत्मज्ञान का उपदेश '**तत् त्वं असि** – तू ब्रह्म है', ये दोनों एक कैसे, यह शोधन करना होगा । **तत् पद शोधन्, त्वं पद शोधन्, असि पद शोधन्** । 'तू क्या है' शोधन करो, 'ब्रह्म क्या है' शोधन करो, 'दोनों एक कैसे' शोधन करो । उच्चतम अनुभवों का उपदेश शुद्धि ही है । ज्ञान तो सदा ही वैसे का वैसा अनाविल और सहज, अपना आत्मस्वरूप है । आत्मशुद्धि तो पूरे जीवन में व्याप्त तत्त्व है । उसी को यहाँ तीन स्तर में बतलाते हैं । '**आत्मा मे शुद्ध्यन्तां**,' यहाँ आत्मा का अर्थ 'खुद', स्वयं । भगवान गीता में कहते हैं – "**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः**' – तुम खुद स्वयं के मित्र हो, तुम खुद स्वयं के शत्रु हो" (6.5) । इस 'स्वयं' को हम स्थूल, सूक्ष्म एवम् कारण, ये तीन स्तर में अनुभव करते हैं । स्थूल स्तर में 'स्व' शरीर है । "मेरा स्थूल शरीर शुद्ध हो जाये" । वैसे तो मानव का स्वयंसिद्ध सहज धारणा है कि, "मैं जड़ नहीं हूँ, अपितु चेतन, प्रकाश ज्योतिस्वरूप हूँ ।"

जीवित शरीर चेतना युक्त है । फिर इस में चैतन्य

ज्योति प्रकट क्यों नहीं होती है ? क्योंकि चेतना में कुछ मिलावट हो गया है, कुछ आवरण हो गया है । इसमें कुछ गंदगी आ गयी है, विकृति आ गयी है । यह दो प्रकार का है – एक है 'रज' और दूसरा है 'पाप' । बाहर के प्रसंग से जो अशुद्धि आती है वह रज है और अन्दर से अपने ही कारण जो अशुद्धि आती है वह पाप है । पाप कोई ऊपर से थोपा नहीं जाता है । हम करेंगे तो पाप होगा और हम करेंगे तो पुण्य होगा । व्यवहार-भूमि में जो अशुद्धि आती है वह रज है । रज का शब्दार्थ है धूल । धूल बाहर से कहीं से भी, कभी भी आ सकती है । चिन्तन, संकल्प, भावना की भूमि में जो अशुद्धि या गलती हो जाती है वह पाप है । इन दोनों से मुक्त होने की प्रार्थना है **: "विरजः विपाप्मा भूयासं" ।**

भौतिक दृष्टि से भी अपना शरीर ज्योतिस्वरूप है । किसी भी पदार्थ के चारों तरफ एक आभा (aura) होती है । घने अन्धकार में हम अपने शरीर को भी नहीं देख सकते हैं तो दूसरों के शरीर को क्या देखेंगे । किन्तु कुत्ता, शेर आदि हमें अन्धकार में भी देख लेते हैं । क्योंकि वे

हमारी आभा देख लेते हैं। हम जी रहे हैं क्योंकि शरीर की एक ऊष्मा है। वही ऊष्मा का प्रकाश आभा बन जाती है। निर्जीव वस्तुओं में न ऊष्मा रहती है न आभा। हर एक व्यक्ति के व्यक्तित्व की एक आभा होती है। जैसे करोड़ों व्यक्तियों में हर एक के अँगुठे का निशान भिन्न-भिन्न होता है, वैसे ही हर एक व्यक्ति की आभा भी भिन्न-भिन्न होती है। अपना व्यक्तित्व, character ही ज्योति है। व्यवहार करते समय बिना सोचे-समझे मानवधर्म के प्रतिकूल कुछ क्रिया हो जाती है तो 'रज' बनकर उस ज्योति को आच्छादित करती है। यही रज एकत्रित होकर आगे चरित्र को बिगाड़ देती है। गलत सोचने से भी चरित्र बिगड़ जाता है। किसी के प्रति ईर्ष्या करो तो भी चरित्र बिगड़ जाता है। किसी से क्रोध करो तो चरित्र बिल्कुल ही बिगड़ जाएगा। यही पाप है।

श्रीमद् भागवत के राजा परीक्षित की कथा यहाँ स्मरणीय है। उत्तरा के गर्भ में भगवान ने स्वयं उनकी रक्षा की थी। भयंकर महाभारत युद्ध के अन्त में परीक्षित ही

एक कुलदीपक के रूप में बचा था। उन्हें राज्य देकर पाण्डव भी वन को चले गए। बहुत वर्षों तक परीक्षित ने राज्य का सुशासन किया। ऐसे प्रतापी एवं कुलदीपक परीक्षित से भी क्रोध के कारण पाप घटित हुआ। एक दिन वन में विचरण करते समय एक समाधिस्थ मुनि से जल माँगा। उनसे कोई उत्तर न मिलने पर क्रोधित होकर एक मरे हुए सांप को उनके गले में डाल दिया। फलस्वरूप परीक्षित को सात दिनों के अन्दर सर्प के काटने से मरने का शाप मिल गया।

गलत 'action with outside' रज को उत्पन्न करता है। गलत 'reaction with outside' पाप का कारण बनता है। सही 'reaction with outside' पुण्य हो जाता है। गलत मानसिक प्रक्रिया, गलत चिन्तन, गलत भावना, आदि पाप से बाहर भी निषिद्ध कर्म, व्यसन आदि रज हो जाते हैं। यह तो स्थूल व्यवहार की बात है।

कोई व्यक्ति बहुत सदाचारी है, पूजा पाठ आदि भी करता है, कोई गलत आचरण भी नहीं करता है, फिर भी

वह अन्दर से अशान्त है। वह अपने आप को समझ नहीं पाता है । अपने आप से असंतुष्ट सा रहता है। इसकी साधना में हमें अन्तरात्मा को लेना पड़ेगा। **'अन्तरात्मा मे शुद्ध्यन्तां'** । इस शरीर को जीवित रखने वाली कोई शक्ति है। वह शक्ति ही अन्तरात्मा है। अन्दर जो प्राण-शरीर या शक्ति-शरीर है वही अन्तरात्मा है । अन्तरात्मा के अन्दर एक ज्योति है।

'यत् प्रज्ञानमुतचेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु।

— शिवसंकल्प सूक्त

— 'इसी ज्योति को प्रज्ञा, चेता एवं धृति नाम से कहा गया है। सभी प्रजाओं के अन्दर यह ज्योति है।' वही शक्ति संकल्प है। संकल्प से कामना और कामना से ही सभी पाप होते हैं। आत्मा का प्रकाश धृति, अन्तरात्मा का प्रकाश चेता, और परमात्मा का प्रकाश प्रज्ञा कहलाती है। हमारे अन्दर चेतना रूपी ज्योति है। विषय वासना इसकी रज है और कामक्रोधादि इसके पाप हैं। गीता में भगवान कहते हैं —

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

– भ. गीता (3.37)

— 'रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खाने वाला अर्थात् भोगों से कभी भी तृप्त न होने वाला और महापापी है, इसको ही तू इस संसार में शत्रु जान।'

ये अन्तरात्मा के पाप हैं । इनसे भी निवृत्त होना होगा। **'विरजा विपाप्मा भूयासगं स्वाहा'** ।

नारदजी, शुकदेवजी जैसे कोई-कोई होते हैं जिनकी अन्तरात्मा अत्यन्त निर्मल, शुभ्र एवं संयत है । वे कल्याणकारी संकल्प वाले भी होते हैं। ऐसे होते हुए भी नारदजी सनतकुमार आदि से मिलकर कहते हैं — "मैं दुःखी हूँ — **सोहं भगवः शोचामि**" । परमात्मा की भी अशुद्धि होती है। इस सूक्ष्म शरीर के भीतर अहं अभिमान कर बैठा है, वह अपने आप को जानता नहीं है। अपने आप को न जानना ही अशुद्धि है। अपने आप को अपूर्ण

समझना ही इसका कारण है। '**अपूर्णं मन्यता व्याधिः —** अपने में अपूर्णता का अनुभव करना ही संसार का रोग है'। यह अनुभव बाहर के व्यवहार से हुआ है। कुछ स्थूल चीज़ चाहता है तो उसके लिए कोशिश करता है और वह मिल जाती है। किन्तु कितनी ही कोशिश करने पर भी आत्मतत्त्व नहीं मिल सकता है। कुछ करने से अमृत्व नहीं मिलेगा। ''मुझे करना है, मुझे करना है'' – यह भावना रज है। स्वयं के परमात्म स्तर पर, अपने स्वरूप को नहीं जानना ही पाप है। परम आत्मतत्त्व का अज्ञान ही सारे पाप का मूल है।

'**किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा —** स्वात्मा का अपहरण करने वाले चोर का और कौन सा पाप बाकी है ?' कर्म, भाव सब कुछ शुद्ध होते हुए भी यदि ज्ञान न हो तो उसे पाप ही समझना चाहिए। सुन्दर, मूल्यवान आत्मतत्त्व को दबा रखा है तो उससे बढ़कर कौन सी चोरी है, कौन सा पाप है ?

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमहं विचित्रम्।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ॥

– कैवल्योपनिषद्

— ''मैं अणु से भी अणु हूँ और महान से महान। मैं स्वयं यह विचित्र विश्व बन जाता हूँ। मैं सृष्टि के पूर्व हूँ। मैं ही पुरुष, मैं ही ईश्वर। स्वर्ण आभायुक्त हूँ। शिव हूँ।''

यही परमात्मा का असली स्वरूप है। ''**पुरातनोऽहं —** कोई ऐसा समय नहीं था जब मैं नहीं था। पहले भी था, आज भी हूँ और आगे भी रहूँगा।'' ''**हिरण्मयोऽहं** – मैं स्वर्ण स्वरूप हूँ'' '**हितं च रमणियं च अयं इति हिरण्यं**'। सबसे हिततम और सबसे सुन्दरतम अपना आत्मस्वरूप है। किन्तु उसे हम पकड़ नहीं सके क्योंकि हम ठीक तरह से खोज नहीं पाये। भगवान भाष्यकार 'विवेक चूड़ामणि' में इस विषय को विस्तार से बताते हैं कि यह अन्दर गड़ा हुआ परमात्मस्वरूप स्वर्णनिधि कैसे प्राप्त होती है। आप्तवाक्य–आत्मोपदेश मिलने के बाद खुदाई शुरु करें। पहले मिट्टी हटाना होगा – यह स्थूल शरीर का शोधन है।

नीचे जाने पर बड़े-बड़े चट्टान मिलेंगे । अब साधारण कुदाली से काम नहीं चलेगा। 'डायनामाईट' लगाना होगा – शोधन का प्रकार बदल जाता है। इस प्रकार चट्टानों को हटाने के बाद, नीचे लोहे की बड़ी भारी पेटी प्राप्त होती है। उसमें जो बड़े भारी ताले लगे हुए हैं उसे साधारण युक्तियों से नहीं खोल सकते हैं। महावाक्यों की विशेष विधि अपनानी होगी । यही परमात्मा का शोधन है। तब जाकर परमात्मा रूपी धन प्राप्त होगा।

कायशुद्धि, चित्तशुद्धि और तत्त्वशुद्धि, इन तीन प्रकार की शुद्धि की हमें जरूरत है । तीन प्रकार के व्यवधान, अवरोध हैं जिन्हें हमें हटाने होंगे और तीन प्रकार की ज्योति हैं जो हमें अन्दर प्रवेश करने में उपयोगी होगी। कायशुद्धि-शौच भी उतना सरल नहीं है। इस शरीर से ही वाणी का प्रयोग करते हैं। वाणी का प्रभाव कितना है यह हम नहीं जानते हैं । इसलिए शास्त्रीय आचरण करेंगे तो शरीर का सही प्रयोग होगा। भगवान इसी को योग कहते हैं –

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

भ. गीता (6.17)

– 'यह दुःखों का नाश करने वाला योग तो युक्त आहार-विहार करने वाले का, कर्मों में युक्त चेष्टा करने वाले का और युक्त सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।'

यह योग आगे अन्तरात्मा शोधन एवं परमात्मा शोधन में भी आएगा। हम प्रारम्भ से ही आहार, विहार और चेष्टा में अशुद्धि को लाते हैं। इसलिए यह योग कठिन हो जाता है । इस स्थूल अशुद्धि को दूर करेंगे तो हम 'युक्ताहारविहार' हो जाएंगे।

वृत्तशौचंमनःशौचं चित्तशौचं ततः परं ।
ज्ञानोत्पन्नं च यत् शौचं तत् शौचं परमं स्मृतम् ॥

'वृत्तशौचं' यानि व्यवहार की शुद्धि। इसे ठीक तरह से करने पर 'मनः शौचं' में जा सकते हैं। नचिकेता की कथा यहाँ स्मरणीय है। नचिकेता के पिता विश्वजित-यज्ञ

कर रहे थे। यज्ञ के विधान के अनुसार उन्हें अपना सर्वस्व दान में देना था। किन्तु वे अपनी अच्छी-अच्छी गायों को न देकर, बूढ़ी गायों को दान में दे रहे थे। यह देखकर छोटे बालक नचिकेता को लगा कि यह ठीक नहीं हो रहा है। ऐसी गायों को दान में देकर ईश्वर को और उन्हें पाने वालें को, दोनों को धोखा दे रहे हैं। यही 'मनः शौच' का अभाव है।

'वृत्ति' माने अपना उद्योग या प्रोफेशन। जीने के लिए पैसे चाहिए और पैसे के लिए उद्योग। वैसै जीने के लिए अन्न ही चाहिए और अन्न पर्याप्त है भी। किन्तु हम अर्थ-संचय में विश्वास करते हैं। अपने बच्चे और परिवार के भावी सुदृढ़ बनाने के नाम पर विपुल अर्थ का संचय करते हैं। किन्तु यदि यह अर्थ-संचय का स्रोत गलत है तो वह अर्थ अनर्थ करेगा। इस प्रसंग में हमारे गुरुजी एक दृष्टान्त कहते थे। पंजाब के एक सज्जन के यहाँ कुछ महात्मा लोग यात्रा करते पहुँचे। उस सज्जन ने बड़े प्रेम से उन्हें भोजन कराया। महात्माओं को उस भोजन में

सात्विक अन्न का अनुभव हुआ और वे पूछ बैठे, "क्या यह आप के खेत के गेहूँ की रोटी है?" सज्जन ने जवाब दिया - "इस वर्ष हमारे खेत में बहुत गेहूँ पैदा हुआ। किन्तु मुझे ज्ञात हुआ कि मेरे पुत्र ने गलत ढंग से पानी की चोरी करके गेहूँ पैदा की। मैं महात्माओं को चोरी का अन्न खिलाकर उनके भजन में बाधा डालना नहीं चाहता हूँ। इसलिए दुकान से गेहूँ खरीदकर भोजन बनाया"। अर्थ-शौच का मनःशौच के साथ इतना गहरा संबन्ध है।

मनु महाराज की उद्घोषणा है - "**सर्वेषां एव शौचानां अर्थशौचं परं स्मृतम्** - सब प्रकार के शुद्धियों में अर्थशुद्धि महत्वपूर्ण है।" उस अर्थ से ही बाकी सब साधन होते हैं। अतः अर्थशुद्धि का ध्यान रखना होगा। लोग कहते हैं बाल-बच्चों के लिए गलत काम करना पड़ता है। किन्तु ऐसे अर्थ से बाल-बच्चों का भावी कलुषित ही होगा।

बाहर की शुद्धि भी बहुत सूक्ष्म होती है। हमारे यहाँ सुवा-सूतक की प्रथा है। सुवा-सूतक वाले घर का अन्न

अशुद्ध होता है, नहीं ग्रहण करना चाहिए। ये सब सूक्ष्म अशुद्धियाँ हैं। हमें प्रदूषण के प्रति संवेदनशीलता निर्माण करना होगा। इसी प्रकार सभी अशुद्धियों के प्रति संवेदनशीलता बढ़ाना होगा। तब जरा भी अशुद्धि सहन नहीं होगी। **'योगी अक्षिकल्पवत्'** — इस सूत्र में योगी को आँख की उपमा दी गयी है। आँख, हाथ और पैर में बहुत अन्तर होता है। पैरों में धूल लगे तो कोई ध्यान नहीं जाता। किन्तु हाथ में धूल लगे तो तुरन्त धोने की इच्छा होती है। आँख में धूल का एक कण भी गिरना असहनीय होता है। वैसे ही योगी सूक्ष्म से सूक्ष्म अशुचि को भी नहीं सहन करते। इस प्रकार की संवेदनशीलता बढ़ानी होगी। भोजन करते समय अन्न का गुण-दोष का अनुभव होना चाहिए। यह नहीं कि कैसे भी पेट भरें। शौच में इन सब बातों पर ध्यान रखना होगा।

प्रवचन – 3

आत्म अशुद्धि से गीता प्रारम्भ होती है और आत्ममुक्ति में गीता की परिसमाप्ति है। अतः सारी गीता आत्मशुद्धि की ही कहानी है। गीता के प्रारंभ में अर्जुन कुछ बोलते हैं। बोलते-बोलते उनकी सारी शक्ति चली जाती है। खड़ा होना भी उनके लिए संभव नहीं था, फिर गांडीव धनुष को कैसे संभालते ! शरीर की धृति चली गयी। मन में मोह का निवास हुआ। पहले संदेह हुआ कि इन सबसे लड़ना ज़रूरी है क्या ? सही है क्या ? अर्जुन कहने लगे, ''हम धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में पाप करने आए हैं क्या ?'' भगवान कृष्ण को उपदेश सा देते हुए उन्होंने

कहा, "ऐसा पाप हमें नहीं करना चाहिए ।" अपनी कमजोरी को एक प्रामाणिक रूप देते हुए, "मैं लड़ूँगा नहीं" कहकर बैठ गए। यह सुनकर भगवान कृष्ण मुस्कुराते रहे। उनकी मुस्कुराहट कभी हटी ही नहीं, जीवन के अंतिम क्षण तक ! अनुमान कर सकते हैं कि जन्म लेते समय भी वे मुस्कुराये ही होंगे, रोये नहीं होंगे ! रोते तो कंस को पता लग गया होता !

यहाँ भी भगवान मुस्कुराकर कहने लगे –

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

– भ. गीता (2.2)

"कहाँ से यह कल्मष आ गया ?" कल्मष से गीता प्रारंभ होती है। कल्मष माने अशुद्धि । **अनार्यजुष्टम्, अस्वर्ग्यम्** और **अकीर्तिकरम् –** अर्जुन में ये तीन प्रकार की अशुद्धियाँ आ गईं । लौकिक दृष्टि से सभ्य पुरुष को आर्य कहते हैं। भगवान ने अर्जुन को समझाया, "तुम्हारी बातें अनार्य की जैसी है। शास्त्र की दृष्टि से भी यह कोई

अच्छी बात नहीं है। स्वर्ग के बदले नरक में ले जानेवाली बात है । बड़े लोग, साधुपुरुष इस बात की प्रशंसा नहीं करेंगे ।" भगवान की बात को सुनकर अर्जुन सोचने लगे। 'अर्जुन' का अर्थ होता है – जो सीधा है, अपने आप को धोखा देनेवाला नहीं है। अतः अर्जुन साधक बनकर अपने अन्दर देखने लगे । अभी तक बाहर अपने शत्रुओं को रिश्तेदारी की दृष्टि से देख रहे थे, मोह की दृष्टि से देख रहे थे। अब भगवान का फटकार सुनकर अन्दर देखा कि खुद की दृष्टि में कितनी गंदगी है।

शिष्य का प्रथम लक्षण यही है कि वह अपनी गलती को स्वीकार ले । उस गलती को दुरुस्त करने के लिए अपने आप को समर्पित करना द्वितीय लक्षण है। गलती को सुधारने के लिए जो उपाय बतलाते हैं उसका सही-सही पालन करना यथार्थ शिष्य का तृतीय लक्षण है । गलती किससे नहीं होती है ? '**शासनार्हः शिष्यः –** जो शासन के लिए योग्य है उसे शिष्य कहते हैं' । यह शिष्यत्व उनके अन्दर जाग्रत हुआ तो अर्जुन बोल उठे –

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

— भ. गीता (2.7)

''आप निश्चय करके बताइए । मैं निश्चय करने में असमर्थ हूँ, क्योंकि कार्पण्य दोष से मेरी बुद्धि मारी गई है ।'' कृपणता ही अशुद्धि का मूल कारण है । अपने आप को बहुत छोटा बना देना — यही कृपणता है। कंजूस करोड़पति कहता है कि उसके पास कुछ भी नहीं है । शक्तिदरिद्रता ही कृपणता है । इसी कार्पण्य दोष से आगे जाकर **'धर्मसम्मूढचेताः** — धर्म के विषय में विमूढ़ चित्तवाला' हो जाता है । अन्दर की ज्योति — प्रज्ञा, चेता एवं धृति तीनों चली गई । तीनों स्तर की ज्योति बुझ गयी । अर्जुन अन्दर झाँका तो अन्धकार ही अन्धकार देखा । किन्तु श्रद्धा नहीं गयी थी । वही एक बच गयी थी और वही बचा सकती थी । इसलिए बोले, ''**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** – मैं आपका शिष्य हूँ, आपके शरणागत हुए मुझे शिक्षा दीजिए । आप जो बोलेंगे उसे स्वीकार करूँगा और वैसा ही करूँगा''। यही शिष्य का लक्षण है । गुरु जो कहते हैं उसे स्वीकार कर चलना, यही प्रपत्ति – शरणागति है । शरणागत होकर अर्जुन भगवान के चरण पकड़ लिए । ये वही चरण हैं जिनसे भगवती गंगा निकली थी । अब वहाँ से जो ज्ञान–गंगा निकली उससे अर्जुन के सारे कल्मष मल बह गए । गीता के अन्त में वे कहते हैं —

''नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥''

— भ.गीता (18.73)

— ''हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे (आत्म–तत्त्व–विषयक, अपने सच्चे स्वरूप की) स्मृति प्राप्त हुई है । अब मैं संशय–मुक्त होकर स्थित (सन्नद्ध) हूँ, मैं आपके कथन को क्रियान्वित करूँगा ।''

यहाँ तीनों अशुद्धियों के निवारण का कथन है । प्रथम, मोह नष्ट हो गया, अब सम्मूढ चेता नहीं रहे । दूसरा,

'स्मृतिर्लब्धा', अब मन में सही-सही चिन्तन-प्रज्ञा से कार्पण्यता गई । तीसरे में, करने का बल, उत्साह और संकल्प तैयार हो गया । धृति जागृत हो गई। अतः गीता शुद्धि की ही कहानी है । "**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**" (भ.गीता - 18.66), यह गीता की उद्‌घोषणा है — "सारे कल्मष से, पाप से तुझे मुक्त करुँगा" । अतः गीता का अनुसरण करेंगे तो निश्चित रूप से आत्मशुद्धि एवं आत्ममुक्ति हो जाएगी ।

गीता के श्लोकों के माध्यम से भगवान जो प्रक्रिया बतलाते हैं उसे समझना होगा । हमारे अन्दर धर्म का ज्ञान आना चाहिए। यहाँ भगवान उस धर्म की बात कर रहे हैं जो नश्चित रूप से श्रेय की ओर ले चलेगा। अर्जुन कहते हैं, "**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे** - निश्चित रूप से जो श्रेय है उसे मुझे बताइए" । इसलिए भगवान श्रेय का निश्चय बताते हैं । केवल किसी के कहने मात्र से नहीं, किन्तु उसके पीछे युक्ति भी होनी चाहिए। मन में बात बैठ जानी चाहिए । इसलिए भगवान अर्जुन से विस्तार से धर्म की

बात करने लगे । स्थूल स्तर में अधर्म की, अधृति की, हिजड़ेपन की, कार्य सही रूप से नहीं करने की, घबरा जाने की, जो कल्मष आई है उसे हटाने के लिए सर्वप्रथम उपदेश देते हुए कहते हैं —

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

- भ.गीता (5.11)

आत्मशुद्धि चाहते हो तो कर्म करना होगा। हम डरते हैं कि कर्म करेंगे तो फँस जाएंगे । किन्तु शुद्धि का यही प्राथमिक बुनियादी उपाय है।

कर्म नहीं करेंगे तो अन्दर बैठे दुश्मनों का आपको पता ही नहीं चलेगा। कर्म करेंगे तो मालूम होगा कि अन्दर क्या-क्या गंदगी है। कर्म नहीं करेंगे तो उसको सुधारने का कोई मौका नहीं मिलेगा। परन्तु इसके लिये एक विशेष तरीके (technic) से कर्म करना होगा । आपको आत्मशुद्धि की ओर ले जाने वाला कर्म ही करना है ।

'**योगिनः कर्म कुर्वन्ति** – योगी होकर कर्म करना होगा'। वह योग आपके कर्म को आत्मशुद्धि के लिए एक बढ़िया सुन्दर ब्रश बना देगा। 'कायेन' शरीर से, 'मनसा' मन से, 'केवलैरिन्द्रियैरपि' केवल इन्द्रियों से भी कर्म करते हैं। यहाँ 'केवलैः' – यह शब्द बहुत महत्व का है। मन और बुद्धि के बिना केवल इन्द्रियों से कोई कर्म नहीं होता है। यदि कोई नींद में उठकर अन्जाने में कुछ कार्य करता है तो उसे कर्म नहीं कहा जाएगा। यह कोई बिमारी हो सकती है। 'केवलैः' – इस पर प्रकाश डालते हुए भगवान भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं कि "यहाँ **'केवलैः'** का अर्थ है '**अहंभाववर्जितैः**' – अहंकार रहित मन, बुद्धि, इन्द्रीय आदि से कर्म करना।" जिस कर्म की प्रेरणा में अहंकार की पुष्टि नहीं होती है ऐसे मन, बुद्धि, इन्द्रियों की प्रवृत्ति होनी चाहिए। जो जल्दी से जल्दी ज्यादा से ज्यादा पैसा कमाता हो, उसे कर्म में कुशल नहीं कहा जाएगा। भगवान कहते हैं, "**योगः कर्मसु कौशलम्** – कर्म में योग लाना ही कुशलता है"। मन को अविचल रखना, मान-

अपमान और सफलता-असफलता में समभाव रखना योग है। सभी परिस्थितियों में मन का हलचल न होना, मन को एक सा रखना योग का लक्षण बतलाया गया है। इसका मतलब मन को स्तब्ध रखना नहीं है। यह योग सुनने में सरल सा लगता है। किन्तु उतना सरल नहीं है।

पूरी लंका जल गई, बहुत से योद्धा मारे गए, तब जाकर रावण ने कुंभकरण को जगाया। उनका जगने का समय तो नहीं था, बड़ी कठिनाई से उन्हें जगाया गया। तब रावण ने कुंभकरण को सारी बातें बताई और कहा, "तुमको अब युद्ध करना होगा"। वाल्मीकि रामायण का यह प्रसंग बहुत ही रोचक एवं प्रेरक है। उत्तर में कुंभकरण ने सुन्दर उपदेश दिया। कुंभकरण कहने लगे - "मैं तो जग गया हूँ, आप जग गये क्या ? आप विद्वान होकर ऐसा काम क्यों करते हो ? बिना सोचे काम करते हो। शास्त्रों के अनुसार –

त्रयाणां पंचदायोगं कर्मणां य प्रपश्यति।
सचिवैः समयं कृत्वा स सभ्ये वर्तते पथिः॥

— 'वह राजा सभ्य एवं प्रशंसनीय मार्ग में चलता है जो तीनों कर्मों को पाँच प्रकार के अंगयुक्त समझते हुए मन्त्रियों से मन्त्रणा करके काम करता है।' कायिक, वाचिक एवं मानसिक ये तीनों तरह के कर्म हैं। (1) आरंभोपायः (2) पुरुष-द्रव्य संपत्ति (3) देशकाल विभागः (4) विघ्न प्रतिकारः (5) कार्यसिद्धि — ये कर्म के पाँच अंग हैं। **'आरंभोपायः'** — किस प्रकार कार्य को प्रारंभ करना चाहित। एक गलत कदम रख दिया तो पूरी दिशा बिगड़ जाएगी। इसलिए हम आरंभ का मुहूर्त देखते हैं और मंगलाचरण करते हैं। कुंभकरण रावण को कहते हैं, ''तुमने आरंभ में ही गलती की। परस्त्री सीता को लाने की क्या ज़रूरत थी ? अंगारे को आँचल में बटोर कर लाए हो तो घर जलना निश्चित ही है।'' **'पुरुष-द्रव्य संपत्ति'** — आरंभ करने के बाद कार्य आगे बढ़ाने के लिए उपयुक्त पुरुष, साधन-सामग्री और पैसे की व्यवस्था के बारे में भी पहले ही सोचना चाहिए। **'देशकाल विभागः'** — कौन सा देश है, समय कैसा है, इसका भी विचार करना चाहिए।

बीच में क्या-क्या विघ्न आ सकते हैं, इसके बारे में भी सोचना होगा। **'विघ्नप्रतिकारः'** — विघ्न आने पर उसका क्या उपाय करना होगा यह भी पहले से सोचना होगा। ''आगे देखा जाएगा'', ऐसा विचार ठीक नहीं है। हम क्या सिद्ध करना चाहते हैं यह **'कार्यसिद्धि'** के बारे में भी स्पष्टता होनी चाहिए। ये सब सोचे बिना कोई कार्य करेंगे, तो भी कार्य तो पूरा हो जाएगा, किन्तु वह सिद्धि संपत्ति न होकर विपत्ति हो जाएगी।

वैसे अर्जुन ने यह सब सोच करके ही आगे कदम बढ़ाया था। वह अकेले तो निर्णय नहीं लिया था। कितनी ही बार सब ने मिलकर वार्तालाप किया था। कोई नतीजा नहीं निकला। आखिर उपाय के रूप में युद्ध ही सामने आया। भगवान स्वयं एक बार दूत बनकर गए थे। आधा राज्य के स्थान पर पाँच गाँव भी देने के लिए दुर्योधन तैयार नहीं हुआ। उस समय दुर्योधन ने उसके परिणाम के बारे में नहीं सोचा। तो क्या दुर्गति हुई यह सब कोई जानते हैं। दुर्योधन और अर्जुन दोनों कृष्ण के पास युद्ध में सहायता

के लिए गए थे। कृष्ण दोनों के लिए बराबर थे। निःशस्त्र भगवान और विशाल नारायणी सेना में से अर्जुन ने भगवान को ही चुना। क्योंकि अर्जुन को मालूम था कि भगवान को साथ रखने से सभी विघ्न-बाधा का प्रतिकार हो जाएगा। इसी को 'विघ्नप्रतिकारः' कहते हैं।

अर्जुन को कार्यसिद्धि को लेकर मोह हो गया था। 'क्या करने के लिए युद्ध के मैदान पर आए' यह भूल गए। अपने ही स्वजनों को मारकर राज्य नहीं करने का निश्चय किया। किन्तु अर्जुन भूल गए कि अधर्म का नाश करना और धर्म को स्थापित करना ही उनका ध्येय था। भगवान ने कहा कि हमारा उद्देश्य केवल आत्मशुद्धि है —

'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'

– भ.गीता (5.11)

'संग'ने अर्जुन के ध्येय में बाधा उत्पन्न कर दी।

'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते'

– भ.गीता (2.48)

— 'सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला हो। समत्व ही योग कहलाता है।' योग से कर्म करेंगे तो आत्मशुद्धि होगी। अन्य जो भी प्राप्त होगा उसका विनाश निश्चित ही है। बुनियादी बात यह है कि आसक्त होकर कोई कर्म न करें। 'संगं त्यक्त्वा', संग रहेगा तो आत्मशुद्धि कभी भी हो नहीं सकती। इसलिए भगवान बार-बार इस असंगता का उल्लेख करते हैं। किन्तु घबराने की कोई बात नहीं है। सफलता मिले तो भी अच्छा, नहीं मिले तो भी अच्छा, ऐसी निसंगता से काम कर सकेंगे तो ही 'आत्मशुद्धि' के मार्ग पर आगे बढ़ सकेंगे। नहीं तो पशुवत् अर्थप्रधान जीवन में पड़े रहना होगा। संग को छोड़ने वाला ही साधक कहने लायक है। साधना के रूप में ही कर्म करना है। तभी तो पता लगेगा कि अपने अन्दर कितना मैल पड़ा है। गुफा में बैठने से मालूम ही नहीं पड़ेगा कि कितनी आसक्ति, कितना क्रोध, कितनी असहिष्णुता अपने में है।

ॐ

स्थूलशरीरः शुद्धयन्ताम् भूमिरहं लं स्वाहा ।
प्राणशरीरः शुद्धयन्ताम् उदकमहं वं स्वाहा ।
मनः शरीरः शुद्धयन्ताम् अग्निरहं रं स्वाहा ।
बुद्धिशरीरः शुद्धयन्ताम् वायुरहं यं स्वाहा ।
अहंकारः शुद्धयन्ताम् आकाशोहं हं स्वाहा ।
आत्मा मे शुद्धयन्ताम् ब्रह्माहं ॐ स्वाहा ।
ॐ स्वाहा ॐ स्वाहा ॐ स्वाहा ॐ स्वाहा

प्रवचन – 4

सारी अनात्मा–अशुद्धि को स्वाहा करना है। पूजा में नमःपूर्वक द्रव्य का अर्पण होता है। जिस देवता को अर्पण करना है उनके नाम के साथ नमः जोड़कर द्रव्य का अर्पण किया जाता है। स्वाहा केवल अग्नि में अर्पित करने का मंत्र है। अग्नि में अर्पित किया हुआ द्रव्य अग्नि के साथ आत्मसात हो जाता है, यह विशेषता है। शिवजी को फूल अर्पित करेंगे तो शिवजी उसे स्वीकार ज़रूर करेंगे, किन्तु हमारी दृष्टि में फूल पड़ा ही रहेगा। नमः की एक प्रक्रिया है और स्वाहा की एक अलग प्रक्रिया है। हमें नमः तो करना ही है, किन्तु अन्ततोगत्वा स्वाहा भी करना है। हम

अपने आप को अर्पित कर रहे हैं। आत्मा को आत्मा में अर्पित कर रहे हैं। यही आत्मशुद्धि है।

'आत्मैवेतदं सर्वं — जो कुछ भी है सब आत्मा ही है'। आत्मा कोई भी सीमा को सहन नहीं करता है। उस unlimited, unrestricted, uncontained – असीम, अव्यवच्छिन्न, अखण्ड आत्मा को हम अभी पकड़ नहीं पा रहे हैं, अपने आप को अपरिच्छिन्न रूप से अनुभव कर नहीं पा रहे हैं, क्योंकि मल है, बाधाएँ हैं, restrictions हैं। अतः इन सब को स्वाहा करना पड़ेगा। वैसे तो वे restrictions भी आत्मा ही हैं। आत्मा ने ही 'स्व' को संकुचित कर लिया तो शरीर बन गया। जब तक आत्मशुद्धि के मार्ग पर नहीं होंगे तब तक इस बात को समझ नहीं सकते हैं।

आत्मशोधन में आवरणों की प्रक्रिया एवं अवस्था की प्रक्रिया, ये दोनों प्रक्रिया स्वीकृत हैं, सुप्रतिपादित हैं। एक-एक आवरण आया हुआ है। आत्मा ने स्वयं इन्हें

बनाया है, जैसे रेशम का कीड़ा स्वयं रेशम का धागा बनाकर खुद को कोश में बाँध देता है। चैतन्य तो पाँच-पाँच कोश बनाता है। हम लोग भी घर आदि बनाकर अपने आप एक और आवरण तैयार करते हैं। मूर्ख व्यक्ति उस घर में फँस जाता है जबकि साधक उस घर को लेकर आगे बढ़ जाता है। यह सृष्टि की प्रक्रिया है, कुछ भी अप्राकृतिक नहीं है। जो कोई परमात्म तत्त्व सत्य था उसी ने संसार की सृष्टि की। उस सृष्टि-प्रक्रिया में ही यह नीहित है कि उसके एक अंश को लेकर मनुष्य का निर्माण हुआ। God created us in His own image. इसका अर्थ इसाई लोग सही-सही नहीं समझते हैं। किन्तु इसे समझे बिना अपना मानव- जीवन सही नहीं हो सकता है। अपना जीने का ढंग वही होना चाहिए जिस ढंग से परमेश्वर ने संसार को बनाया। तब व्यक्ति ईश्वर बनकर जियेगा, अब तो गुलाम बनकर जी रहा है। जीवन हमको मिला है, हमने बनाया नहीं है। जिसने बनाया उसके अनुसार जीना चाहिए। किसी भी यन्त्र को उपयोग में लेने के पहले उसके

साथ मिले manual को देखकर उसके निर्देशानुसार यन्त्र को चलाना चाहिए। नहीं तो बहुमूल्यवान वह यन्त्र बिगड़ सकता है। वैसे ही कितने ही पुण्य के कारण यह अमूल्य मानव शरीर प्राप्त हुआ है। उसका प्रयोग भी instruction book, वेद-शास्त्र के अनुसार ही करना चाहिए। भारत का सौभाग्य है कि यहाँ शास्त्र विद्यमान हैं। सृष्टि के प्रारंभ में भगवान ने 'वेद' सबको दे दिया। मूर्ख लोगों ने उसे खो दिया। हमने अभी तक उसको सुरक्षित रखा क्योंकि यहाँ गुरु-परंपरा है। गुरु-परंपरा नष्ट होता है तो शास्त्र भी नष्ट हो जाता है। शास्त्र कोई ग्रंथ नहीं है — जीवन निर्देश, आत्म उपदेश का संग्रह है।

आधुनिक वैज्ञानिक कहते हैं कि सृष्टि 'big bang' से उत्पन्न हुई। हम कहते हैं कि सृष्टि आत्मा से उत्पन्न हुई। वही आत्मा **'सर्वभूतात्म-भूतात्मा'** है। जिसे कोई अपने ज्ञान से भी सीमित नहीं कर सकता उस परमात्मा को प्रेम से, पराभक्ति से आलिंगन कर सकते हैं। उस परमात्मा से आकाश, देश-काल आदि उत्पन्न हुये। **'माया-**

कल्पित-देशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्' (दक्षिणामूर्ति स्तोत्र)। संसार में जो अनन्त विचित्रता है उसके लिये आधार आकाश है। 'अखण्ड' गति करना चाहा तो सृष्टि की उत्पत्ति हो गयी! आकाश गति करना चाहा तो वायु बन गया। वायु गति किया तो गर्मी (अग्नि) पैदा हुई। गर्मी आयी तो पसीना-पसीना (पानी) हो गया। पानी से मैल और उस मैल से पृथ्वी की उत्पत्ति है। सारी सृष्टी ही परमात्मा के दौड़ने का मैल है! इसलिये जब हम परमात्मा से जुड़ना चाहते हैं तो सृष्टि-क्रम से उल्टा चलना होगा। उत्पत्ति के मूल में जायेंगे तो वह मिल जायेंगे। प्रारंभिक प्रार्थना में हमने गाया था — **'भूमिरहं लं स्वाहा'**। ''मैं भूमि हूँ, मैं अन्नमय शरीर हूँ, मनुष्य हूँ'' — ऐसा नहीं समझें तो उपदेश कैसे ग्रहण करेंगे? कर्म कैसे, संकल्प कैसे करेंगे? इस लिये ''यह शरीर नहीं है'' — ऐसे पोल वेदान्त में नहीं जाना चाहिये, शास्त्र को लेकर चलना होगा। केवल 'शिवोऽहं-शिवोऽहं' कहने मात्र से कोइ शिव नहीं बनता। यह परम्परा विहीन उपदेश है। जो स्थिति

है उसे पहले स्वीकारना होगा । मनुष्य-शरीर मिला है तो ''मैं शरीर हूँ'' इसे स्वीकारना होगा, किन्तु वहीं अटक नहीं जाना ।

घर बनाना अच्छी बात है, किन्तु उसमें अटकना नहीं चाहिये । व्यक्ति को चाहिये कि वह खूब फूले-फले, पक जाये, फिर गिर जाये । **'उर्वारुकमिव बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्'**। पकना ही नहीं चाहते, तो अप्राकृतिक होगा । इस लिये 'भूमिरहम्' की ज़रूरत है । उस भूमि को अंकुरित होने की ताकत देनेवाला जो जल है उसे **'उदकमहं वं स्वाहा'** कहकर स्वीकार करेंगे । भूमि को आत्मा में स्वाहा करेंगे तो जल मिलेगा, जल को स्वाहा करेंगे तो अग्नि मिलेगा, अग्नि को स्वाहा करेंगे तो वायु मिलेगा, वायु को स्वाहा करेंगे तो आकाश मिलेगा । आकाश को भी स्वाहा करेंगे तो शुद्ध आत्मा मिलेगा । ये स्वाहा चिदग्नि में करना होगा । स्थूल पदार्थों को स्थूल अग्नि में स्वाहा किया जाता है । किन्तु भूमि आदि ये सब चैतन्य हैं इसलिये इन्हें चिदग्नि में स्वाहा करना होगा ।

चैतन्य से ही आत्मा उत्पन्न हुआ है, और आत्मा से उत्पन्न ये सभी चैतन्य ही तो होंगे । आम के बीज से आम ही पैदा होगा, बबूल नहीं पैदा हो सकता । जो आत्मा से पैदा हुआ है वह अनात्मा कैसे होगा ? हम उसे अनात्मा भले ही समझते हैं । ''मेरा शरीर'' न कह कर ''मैं शरीर'' कहेंगे तो उल्टी बात होगी । ''तू स्थूल नहीं है, सूक्ष्म नहीं है और कारण भी नहीं है, नेति नेति...'' — ऐसे गुरु के वचनों को महसूस करना होगा, जानना होगा । शरीर मिला हुआ है, शरीर की आवश्यकतायें हैं, घूमना है, खाना है । इन सब को होने दो । किन्तु मूल स्वरूप को महसूस करो,यह अपने हाथ में है ।

यह पृथ्वी देखने में पृथ्वी है किन्तु यह जल की ही उर्वरता है । यह जल जल नहीं है, अग्नि की उष्मा है । अग्नि अग्नि नहीं है, यह वायु की सर्वव्यापकता है । आकाश अपने विस्तार को महसूस करना चाहता है, वह टटोलना ही वायु है । आकाश को कोई बाँध नहीं सकता है । जो आकाश को बाँधने की चेष्टा करता है उसके अन्दर

भी आकाश ही मिलेगा। घर बनायेंगे तो उसके अन्दर भी आकाश ही मिलेगा। आकाश को कोई परिच्छिन्न नहीं कर सकता। किन्तु हमें आकाश से भी परे आनन्द में जाना है।

जैसे व्यवहार को लेकर ये पाँच परते हैं, वैसे ही अनुभूति के लिये जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, ये तीन अवस्थायें हैं। 'जाग्रत' स्थूल विषय की अवस्था है, 'स्वप्न' सूक्ष्म संस्कारों की अवस्था है और 'सुषुप्ति' केवल अहंकार की अवस्था है। इन तीनों को ॐ के द्वारा स्वाहा करते जाना है।

'जाग्रतस्वप्न सुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत् प्रकाशते
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते'

— ''जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि जिसमें भासित होते हैं वह ब्रह्म मैं ही हूँ'' - ऐसा जानकर साधक सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है।'

वेद हमारा शास्त्र है। उसे श्रुति भी कहते हैं। क्योंकि वह सुनाई जाती है। वेद लिखा नहीं जाता था। वेद का

और एक नाम है 'ब्रह्म'। उस ब्रह्म को, वेद को, जो सीखता है वह ब्राह्मण है। यह कोई जाती नहीं थी, **'ब्रह्म जानाति इति ब्राह्मणः'**। वेद का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म में जाना है। उसका साधन होने से वेद को भी ब्रह्म कहते हैं। ज्ञान का साधन होने से '**अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा**' (भ.गीता. 13.7) आदि सबको भी ज्ञान बताते हैं। मनु महाराज कहते हैं - ''**अयंतु परमो धर्मो यद्योगेन आत्मदर्शनम् —** योग के द्वारा आत्मदर्शन करना ही परम धर्म है।'' बाकी शौचादि सब धर्म उपधर्म हैं।

अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः।
स्वधर्मेपि व्यवस्थान शौचमित्यभिधीयते ॥

— 'अभक्ष्य का भक्षण न करना, अनिन्दितों (सज्जनों)का संग करना, और स्वधर्म में दृढ़ रहने को भी शौच कहते हैं।

यह शौच का लक्षण है। अभक्ष्य भक्षण नहीं करना शौच का एक स्थूल रूप है। इससे बहुत कुछ अशुद्धियों से

बच जायेंगे। जो निन्दित जन नहीं हैं उनके साथ संग करना चाहिये। निन्दितों के साथ संग सभी मानसिक अशुद्धियों का मूल है। शराब आदि सभी व्यसन कुसंग से ही होते हैं। कौन साधारण बुद्धिवाला मनुष्य इस जहर को पियेगा, कौन तमाकू के धुए को निगलेगा ? स्वधर्म में व्यवस्थान को भी शौच कहते हैं। कोई व्यक्ति ये शौचादि के सारे नियमों का पालन क्यों करे ? मनु महाराज कहते हैं कि आत्मा का दर्शन करने हेतु शौच का पालन करना है। जो इस बात को स्वीकारेगा वही संवित् साधक है।

'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'

– भ.गीता (5.11)

आत्मशुद्धि के लिये ही योगी बनकर कर्म करना है। इससे प्रारम्भ करके अर्जुन सारी अशुद्धियों को छोड़ दिया। कैसे कर्म करना चाहिये इस विषय में कुम्भकर्ण का उपदेश हमनें देख लिया। सबसे बड़ी बात है संग को त्याग कर कर्म करना। ब्रह्म प्राप्ति के इस मार्ग पर हरेक कर्म

बहुत सावधानी से करना होगा। धर्म के आचरण में ही सबसे ज्यादा सावधानी होती है। झाड़ू लगाना है तो वह भी धर्म के अनुसार होता है। झाड़ू लगाकर झाड़ू को फेंक देने वाले शिष्य को गुरुजी झाड़ू को सावधानी से आदरपूर्वक रखने का उपदेश देते हैं। ये सब शिक्षा नहीं मिलने के कारण हम धर्म करते हुए भी अशुद्ध रह जाते हैं। चप्पल की ही बात लीजीये। प्रायः घर के सामने चप्पल जहाँ–तहाँ अस्त–व्यस्त पड़े रहते हैं। चप्पल का एक नाम पादरक्षा है। वह हमारी रक्षा करता है तो हमारा भी धर्म है कि उससे आदरपूर्वक व्यवहार करें। चप्पल पहनना भी धर्म से, चप्पल खोलना भी धर्म से चाहिये। इस बात को कोई भी समझाते या कहते नहीं हैं। क्योंकि हम धर्म को नाम मात्र के लिये मानते हैं, उसे हृदय में स्थान नहीं दिया है। घर के अन्दर की गन्दगी सड़क पर फेंकना कोई धार्मिक पुरुष का काम नहीं है। इस दम्भ को छोड़ना होगा। आत्मदृष्टि से ही यह बदलाव आयेगा। तब हर कर्म '**योगेन आत्मदर्शन**' के उद्देश्य से होगा। यह योग पहले कर्म में आना चाहिए।

गीता के आत्मशुद्धि सूक्त के दूसरे, तीसरे और चौथे श्लोक में प्रत्येक कर्म करते हुए कैसे अनात्मदृष्टि को दूर कर, आत्मशुद्धि में जाते हैं — इसे दर्शाया गया है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

– भ.गीता (5.7)

जिसके कारण–शरीर का मल नष्ट हो गया हो, वह विशुद्धात्मा है। शरीर को जिसने नियंत्रित किया हो वह जितात्मा है, और जिसने इन्द्रियों को वश में किया है उसे जितेन्द्रिय कहते हैं। ऐसे पुरुष से ही धर्म का कार्य होगा। चप्पल खोलते समय भी जितेन्द्रिय पुरुष चप्पल को व्यवस्थित ही रखेंगे। जैसे सड़क पर चलते समय यातायात नियमों का पालन करना होता है, वैसे ही बोलते समय भी व्यावहारिक नियमों का पालन करना होता है। किससे, कहाँ बात करना है उसका ध्यान रखना होता है। जो योगयुक्त पुरुष जितेन्द्रिय, जितात्मा और विशुद्ध आत्मा है,

वह **'सर्व भूतात्मभूतात्मा'** हो जायेगा। यह अन्तिम शुद्धि है। भगवान भाष्यकार इस शब्द के ऊपर व्याख्या करके लिखते हैं — **'ब्रह्मादीनां स्तम्ब–पर्यन्तानाम् भूतानाम् आत्मभूत आत्मा —** जिसकी आत्मा ही ब्रह्मा से लेकर तिनके तक के आत्मस्वरूप बन गई है'। कर्मयोग करेंगे तो यह चेतना आयेगी। वह 'सम्यकदर्शी' — ठीक ठीक देखने वाला बन जाता है। बाकी सब तो **'विमूढात्मा नानुपश्यन्ति'** हैं। विमूढ़ात्मा जैसा है वेसा देखता नहीं है। **'सर्वभूतात्मभूतात्मा'** ज्ञानचक्षु वाला हो जाता है। उपरोक्त रीति से विधिवत् हर कर्म में शुद्धि का आचरण करने से यह ज्ञानचक्षु मिलेगी। **'कुर्वन्नपि न लिप्यते —** कर्म करते हुये भी कर्म का बन्धन नहीं होता है'। साधक को यहाँ तक जाना है। किसी को भी आगे इस स्तर में जाना ही होगा।

अभी व्यक्ति को यह मालूम नहीं है कि जीवन कितना उन्नत, उज्ज्वल और आनन्दमय है। सामने कोई छोटी पहाड़ी हो तो उसके पीछे के उससे भी बड़े पहाड़ का दर्शन हम नहीं कर पाते हैं। ऊँचे चढ़कर देखेंगे तभी

उसका दर्शन कर पाते हैं। वैसे ही हमें भी ऊँचाई पर चढ़ने पर ही उस उन्नत उज्ज्वल आनन्दमय जीवन का दर्शन होगा। जो अभी है उन सामाजिक बातों को ही सब कुछ मान कर बैठना नहीं चाहिये। टीवी की तो बात करना ही बेकार है। लोग उसके सामने बैठकर घण्टों बिताते हैं और मूर्ख बनकर रहते हैं। इसलिये इसे idiotbox कहते हैं। कभी-कभी मूर्ख बनना समझ में आता है, किन्तु जीवनभर मूर्ख बनना कोई अच्छी बात नहीं है। चेतना की ऊँचाई में जाने पर जो अद्‌भुत दर्शन होगा उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। चेतना को और भी उन्नत करने पर वे शिखर हमें अपनायेंगे।

साधक को चाहिये कि व्यवहार में कर्मयोग करते हुए, उसके साथ-साथ प्रतिदिन बैठकर ध्यानयोग का भी अभ्यास करें।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ॥

– भ.गीता (6.12)

यह बैठकर ध्यानयोग करना भी आत्मशुद्धि के लिये ही है। दोनों योग साथ-साथ करना है। कर्म में योग करने से अपना कल्मष, गलत संस्कार दूर हो जाता है, और बैठकर ध्यानयोग करने से अपनी चेतना का स्तर ऊँचा उठता है। इसलिये संयम और सम्यकदर्शन दोनों करना होगा। आत्मशुद्धि के प्रसंग में बार-बार कहा जाता है कि इस पथ का सबसे बड़ा शत्रु संग है। उस संग को जीतने के लिये योग-कर्म भी करना होगा, योगाभ्यास भी करना होगा। इन दोनों से ही संग दूर होगा। विषय-कामना को ही संग कहते हैं।

गीता के तीसरे अध्याय में भगवान महत्वपूर्ण महावाक्य सा वाक्य अर्जुन के सामने रखते हैं —

"मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

– भ. गीता (3.30)

— मुझ अन्तर्यामी परमात्मा में लगे हुए चित्त द्वारा

सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके आशा रहित, ममता रहित और सन्ताप रहित होकर युद्ध करो।" युद्ध जैसे भयंकर कर्म को भी आप योग की दृष्टि से स्वस्थ होकर कर सकते हैं। यह तभी सम्भव होगा जब **"मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य"** – सारे कर्मों को भगवान में अच्छी तरह रख सकेंगे। 'अध्यात्मचेतसा', चेतना की दृष्टि से ही यह सम्भव है। उसके लिये शरीर, मन आदि सबको चिदग्नि में स्वाहा करना होगा। तब ईश्वर ही ईश्वर रहेगा और ईश्वर ही में सारे कर्म, सारे संसार दिखेंगे। **'निराशीर्निर्ममो भूत्वा'** – तब कोई expectation, आशा या कोई ममता नहीं रहेगी। कर्म संताप का कारण न होकर एक क्रीड़ा बन जायेगी।

यह सुनकर अर्जुन को लगा कि बात इतनी सरल है तो जानते हुए भी लोग पाप क्यों करते हैं?

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

– भ.गीता (3.36)

अर्जुन बोले – "हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुए की भांति किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है?" आत्मा को ढकनेवाले कर्म को ही पाप कहते हैं। पाप, पुण्य, योग, भक्ति, कुछ भी हो, यदि वह अपने आत्मस्वरूप को ढकता है तो वह पाप ही है। फिर पाप में प्रवृत्ति क्यों होती है?

इस विषय में भगवान विस्तार से कहते हैं –

"काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।"

– भ.गीता (3.37)

श्री भगवान बोले – "रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगों से कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है। इसको ही तू इस विषय में वैरी जान।"

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

– भ.गीता (3.39)

"और हे अर्जुन ! ज्ञानियों के इस अग्नि के समान कभी न पूर्ण होनेवाले नित्य वैरी के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है।" कामना ज्ञान को, आत्मदृष्टि को ढकनेवाली है। यहाँ भगवान बहुत विस्तार से कामनिवृत्ति की प्रक्रिया बताते हैं। वैसे कामरूपी शत्रु सभी प्राणीयों में व्याप्त है। पशु के लिये यह प्राकृतिक है, किन्तु मनुष्य के लिये वह शत्रु है। मनुष्य उसे हटा सकता है। पशु ऐसा नहीं कर सकता है, उसका सारा जीवन काम-केन्द्रित ही है। सहज विषयवृत्ति, कामवृत्ति कैसे ज्ञान को ढकता है, इसे तीन उदाहरणों से भगवान व्यक्त करते हैं —

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥

– भ.गीता (3.38)

— 'आग जलाने पर जैसे धुंआ आग को ढकता है, जैसे दर्पण के ऊपर धूल जमने से वह दर्पण ढक जाता है, और जैसे गर्भ झिल्ली से ढका रहता है, वैसे ज्ञान काम से आवृत्त रहता है' ।

आग जलाने पर न चाहने पर भी धुंआ हो जाता है। Polished surface में धूल जल्दी जमा हुई दिखती है। धूल जमने पर दर्पण काम में नहीं आता है। बालक झिल्ली के अन्दर लिपटा हुआ पैदा होता है। गर्भ के उस आवरण को उल्बन कहते हैं। बच्चा पैदा होते ही उसको हटाकर साफ किया जाता है। नहीं तो उसके अन्दर वह श्वास के अभाव में जी नहीं सकता। वह मल है इसलिये उसे हटाया जाता है। किन्तु गर्भ में रहते समय वह झिल्ली बच्चे का संरक्षक और पोषक होती है। इसी प्रकार कामना के भी तीन प्रकार हैं। एक प्राकृतिक अवांछनीय कामना, दूसरा प्रासंगिक अवांछनीय कामना, और तीसरा प्राकृतिक वांछनीय कामना है।

प्रकृति के नियमानुसार इन्धन जलने पर धुंआ होता है। हमें अग्नि चाहिये किन्तु धुंआ नहीं चाहिये। धुंआ तो होगा ही, किन्तु कुछ तरीके (technic) से उसको हटा सकते हैं। लकड़ी को एक विशेष तरीके से सजाने से

लकड़ी कम धुंआ देकर जलती है। वैसे ही जीवन में भी सभी कर्मों को एक विशेष व्यवस्था-तरीके से करना होगा। बहुत कुछ वासनायें, गलत धारणायें इस व्यवस्थित प्रणाली से दूर हो जायेंगे। योगकर्म से यह स्थिति प्राप्त होगी और फिर रोना नहीं पड़ेगा। यह प्राकृतिक अवांछनीय कामनाओं को दूर करता है।

आकस्मिक (प्रासंगिक) अवांछनीय कामर्ना अकस्मात हो जाता है। तब आप की प्रतिक्रिया क्या होगी ? सब नाशवान है, और नाश होगा ही। राजा जनक को सैनिक आकर कहने लगा, "अपना महल जल रहा है।" राजा जनक ने किंचित मात्र भी उत्तेजित हुए बिना उस आग को बुझाने का प्रयत्न करने का आदेश दिया। उन्होंने कहा, "महल जल रहा है, मैं तो नहीं जल रहा हूँ।" ऐसा कहने के पीछे उनका चिन्तन कितना गहरा होगा ! "**मिथिलायां प्रदग्धायां न मे किंचन दह्यते**"। यह कोई आलसी का या काम से बचने का बहाना नहीं है। जनक

राजा गंभीरता से कह रहे हैं। इसके पीछे प्रगाढ़ चिन्तन है। उनके अन्तःकरण में यह बात अंकित है कि यह सब नश्वर है और नाश अवश्यंभावी है। इस तथ्य को बार-बार दोहराना चाहिये। इसलिये भगवान कहते हैं - "**मामनुस्मर युध्य च –** मेरा स्मरण करते हुए सभी काम करो"। भगवत् स्मरण करेंगे तो वासना-धूल जमने नहीं देंगे। भगवत् तत्त्व ही एक मात्र शुद्ध व शाश्वत है, बाकी सब नाशवान हैं। अतः भगवत् स्मरण का अभ्यास सदा करते रहना होगा। धूल तो आयेगी ही, अकस्मात कभी भी कहीं भी हो सकता है। उसके लिये भी सदा तैयार रहना होगा। घरों में आग बुझाने का साधन तैयार रखते हैं तो मन के अन्दर की आग के लिये भी कुछ प्रबन्ध करना होगा। भगवान कहते हैं कि इस प्रकार स्मरण के साथ जो योग का अभ्यास करता है, वह "**युक्ततमो मतः** - सबसे श्रेष्ठ है"। इस प्रकार जो अभ्यास करेगा वह भगवान के भजन में ज़रूर लग जायेगा। जो भगवान के भजन में नहीं लग जाता है वह पक्का योगी नहीं है, वह कच्चा योगी है। भक्ति से

जो शुद्धि होगी वह अन्य किसी भी कर्म से नहीं होगी । प्राकृत वांछनीय कामना को दूर करना भक्ति से ही संभव है। इस तीसरी शुद्धि पर विस्तार से आगे विचार करेंगे।

प्रवचन — 5

श्रीगीता–आत्मशुद्धि सूक्तम् के पाँचवे श्लोक से शुद्धि–साधन का नया स्तर प्रारम्भ हो रहा है। जब तक हम जानबूझकर कर्म को पाप के लिये प्रयुक्त नहीं करते हैं, तब तक, वैदिक दृष्टि से, कर्म केवल शुद्धि के लिये ही किया जाता है । इसलिये दुराचारी को वेदान्त श्रवण के लिये अपात्र घोषित करते हैं। रात दिन दुराचार करके ब्रह्म की बातें करनेवालों को असुर कहा जाता है । इस कोटि में रावण जैसे बहुत से बड़े विद्वान हो गये। आत्मस्वरूप का उपनिषद्–गीता–अनेक प्रकरण ग्रन्थ आदि में विशद रूप से प्रतिपादन हुआ है। परन्तु उस को पढ़कर बुद्धि के बल

से जान लेने मात्र से बन्धन की निवृत्ति नहीं है । अतः उपनिषद् चितावनी देती है :

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

– कठोपनिषद (1.2.24)

– "इस आत्म प्रतिपादन को दुश्चरित्र वाला, अनियन्त्रित इन्द्रिय, अशान्त मन और बुद्धिवाला, केवल प्रज्ञा–बल से समझ नहीं सकेगा ।" इसलिये दुश्चरित्र, असंयमित इन्द्रिय–मन–बुद्धि आदि उल्लेखित अशुद्धि में से कोई एक भी अशुद्धि रहती है तो वह आत्मस्वरूप को यथार्थरूप में समझने में असमर्थ रहेगा। जब तक इन कमियों की निवृत्ति नहीं होगी तब तक सुनने मात्र से अनुभूति नहीं होगी ।

इसलिये कर्मक्षेत्र में प्रारम्भ से ही शौचाचार की एक सम्पूर्ण रूपरेखा रची गयी है । ज्ञानक्षेत्र में भी ब्रह्मानुभूति का एक सम्पूर्ण रूप रखा गया है । मनु महाराज ने शुचि

प्रकरण में जो विभिन्न स्तर हैं, मन, बुद्धि, इन्द्रीय आदि अंग हैं, अलग–अलग अवस्थायें हैं, इन सबके उपयुक्त अलग–अलग शोधन की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया है। एक ही 'डिटर्जन्ट' से आप सभी कपड़े नहीं धो सकते हैं। मनु महाराज कहते हैं –

अद्भिर्गात्राणी शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।
विद्या तपोभ्याम् भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥

जल से स्नान करने से शरीर शुद्ध हो जायेगा। सत्य वचन से मन शुद्ध होता है। इसलिये सत्य कहने के लिये कटिबद्ध होना चाहिये । बोलते समय मन में सत्य की धारणा होगी तभी सत्य वचन होंगे । मन में कुछ और धारणा है और वचन कुछ और आ रहे हैं, तो वह कुटिलता है, वंछना है। हम जो सोच रहे हैं उसको प्रकट करने के लिये वाणी का प्रयोग होता है। उस तात्पर्य को बिगाड़ेंगे तो वह वंछना है, वह झूठ ही है। इसलिये उपनिषद में वाणी को माँ और मन को पिता बताते हैं – "**वाङ्ग माता मनः पिता**" । एक दूसरे की वंछना नहीं कर सकते हैं। वाणी

का प्रयोग सत्य के लिये ही करेंगे तो स्वाभाविक मन शुद्ध होगा । सत्य का चिन्तन होगा । अन्य सबको धोखा दे सकता है, अपने आप को धोखा कैसे कोई देगा ?

"**विद्या तपोभ्याम् भूतात्मा –** विद्या और तप से जीवात्मा शुद्ध हो जाता है ।" विद्या याने उपासना से जीवबुद्धि की शुद्धि होती है। उपासना और तप से उपासक का अहंकार शुद्ध होता है । वैदिक दृष्टि से शास्त्र के अध्ययन को भी तप कहते हैं। धर्म के मार्ग में सहर्ष कष्ट सहन करना भी तप है। आराम से धर्माचरण करेंगे तो पुण्य मिलेगा, किन्तु जीव की शुद्धि नहीं होगी, चेतना उन्नत नहीं होगी। मन और इन्द्रियों को एकाग्र करना, ध्यान करना भी तप का एक श्रेष्ठ मार्ग है । मनु महाराज कहते हैं, "**मनसश्चेन्द्रियाणां च एकाग्र्यं परमं तपः –** मन आदि इन्द्रियों की एकाग्रता परम तप है" । भोजन छोड़ना, एक पैर पर खड़े रहना आदि अनेक स्थूल प्रकार के तप हैं। इन तपों से कुछ शक्ति ज़रूर प्राप्त होती होगी, किन्तु शुद्धि नहीं होगी । मन और इन्द्रियों का एकाग्रता रूपी संयम और

ईश्वर भक्ति, इन दोनों से जीवत्व शुद्ध होगा, ईश्वर को अर्पण करने योग्य होगा । फिर आप कह सकते हैं - "**त्वमेव सर्वं मम देव देव** ।" "मैं आप का हूँ", यह कथन सार्थक होगा ।

"**बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति –** बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है ।" अभी तक आत्मसमर्पण केवल श्रद्धा से हो रहा है। आत्मश्रद्धा है कि भगवान ही मेरा अपना है। चौरासी लाख योनियों में बहुत सारे सम्बन्ध बनाये, कोई भी साथ निभाया नहीं है। नरक में भी भगवान साथ रहते हैं, और अभी भी हैं। यदि भगवान साथ नहीं होते तो यह श्वास नहीं चलता। कितने ही अत्याचार करने पर भी भगवान अपना साथ नहीं छोड़ते । किन्तु उनका असली स्वरूप हमें ज्ञात नहीं है। ईश्वर-तत्त्व को जानने में बुद्धि कुछ कमजोर पड़ती है। किन्तु शास्त्र कहता है कि बुद्धि ही साक्षात्कार कराती है। तो वह बुद्धि कौन सी है ? वैसे तो परमात्मा अप्रमेय, अगम्य हैं। उनको कोई भी समझ नहीं सकता है। फिर भी वे अनुभव में आते हैं। वैसे वह कोई चीज नहीं है कि हम

उसे देख सकते हैं, प्रयोगशाला में परीक्षा कर सकते हैं। "**दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या –** सुक्ष्म बुद्धि से उसका अनुभव होता है।" बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होगी। तब वह सूक्ष्म होती है।

"**विद्यातपोभ्यां भूतात्मा**"। ईश्वर की उपासना करेंगे तभी आप की शुद्धि होगी। यह एक स्वाभाविक प्रवाह (natural flow) में होता है। सामान्य मज़हब वाले कहते हैं कि "हमारे भगवान को मानोगे नहीं तो नरक में जाओगे"। उनका आग्रह होता है कि उनका ही भगवान सच्चा है। हर मज़हब वाले के अलग-अलग कई भगवान की कल्पना है। वे एक दूसरे से लड़ते भी हैं। किन्तु यहाँ वैसी कोई भी बाध्यता नहीं है। हम पाँच या पच्चास विग्रहों की पूजा कर सकते हैं, किन्तु ईश्वर तो एक ही है ऐसा मानते हैं। विष्णु भगवान कहते हैं – "गणेश मेरी बुद्धि है, सूर्य आँख है, दुर्गा प्राण है और शिव हृदय है। इन सबको अलग करेंगे तो मैं ही नहीं रहूँगा। उनको छोड़कर मेरा अस्तित्व कैसे सम्भव है ?" "मैं जो मानता हूँ वही

ईश्वर है, दूसरे नहीं", यह मज़हब का चिन्तन है, अवैदिक चिन्तन है। वैदिक धर्म पहाड़, पत्थर, पेड़, सभी में ईश्वर को देखने की शिक्षा देता है। वह कहाँ नहीं है ? यद्यपि ईश्वर का कोई नाम-रूप नहीं है, फिर भी सभी नाम-रूप उसी का है। जब भक्त उनका सेवन करना चाहता है, तब उसको उपासना में विहित इष्टनाम, इष्टरूप देते हैं। "**ईशावास्यं इदं सर्वं –** जगत में जो कुछ भी है, सभी को ईश्वर की दृष्टि से देखें"। यह दृष्टि भक्ति से ही मिलेगी, चिन्तन से नहीं मिलेगी।

गीता में भगवान कहते हैं कि कर्म में ही योग का अभ्यास करना चाहिये, यही स्वस्थता है। आसन में बैठकर आंख बन्द करके प्राणायाम करेंगे तभी योग होगा ऐसा नहीं है। आप का उठना-बैठना, खाना-पीना, सभी व्यवहार "योग" होना चाहिये। इस प्रकार के योग करने पर स्वाभाविक रूप से वह भगवान में लगे अन्तःकरणवाला होकर श्रद्धा पूर्वक भजन करेगा।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

– भ.गीता (6.47)

अपने आप ईश्वर का भजन होने लगेगा क्योंकि वह सभी में ईश्वर को देखेगा और ईश्वर में श्रद्धा सुदृढ़ होगी। पहले कर्म में श्रद्धा थी, अब ईश्वर में श्रद्धा सुदृढ़ है। कर्म करते-करते उसको अनुभव होता है कि ऐसा कोई है जो हमारे कर्म स्वीकार करता है। हम किसके लिये कर्म कर रहे हैं ? यह जानने की इच्छा प्रबल होगी तब उनका दर्शन हो जाता है, और सब कुछ उनको अर्पण कर देता है। गीता में भगवान कहते हैं, ''**योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये** — योग के द्वारा कर्म करने पर आत्मा की शुद्धि होती है।'' उसके आगे के श्लोक में आत्म दर्शन को लक्ष्य के रूप में प्रतिपादन करके भगवान कहते हैं —

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

– भ.गीता (5.12)

— ''मैं जैसा कहता हूँ वैसा योग करोगे तो परम शान्ति प्राप्त करोगे। अपने मन से, आसक्त होकर करोगे तो भयंकर बन्धन में पड़ोगे।'' कर्म में योग करने वाला फल की इच्छा को त्यागेगा तभी योग हो सकता है। फल जो मिलने वाला है सो मिलेगा ही, किन्तु योगी मन में उसकी इच्छा नहीं करता है। शुद्धि की इच्छा से कर्म करता है। फल की इच्छा को छोड़ने से **''नैष्ठिकीम् शान्तिमाप्नोति''** — निष्ठा से उत्पन्न शान्ति को प्राप्त करता है। भाष्यकार भगवान शंकर **''नैष्ठिकीम् शान्तिं''** की व्याख्या करते हुए कहते हैं, ''**मोक्षाख्यां निष्ठायां भवाम् नैष्ठिकीम्**'' । कोई एक लक्ष्य में दृढ़ता हो तो उसे निष्ठा कहते हैं। केवल जिद को निष्ठा नहीं कहते हैं। कोई उन्नत लक्ष्य सामने होना चाहिये। उस लक्ष्य में सतत लगे रहना ही निष्ठा है। यहाँ लक्ष्य मोक्ष है। अतः मोक्षरूपी गंतव्य में निष्ठा हो कि हमें मोक्ष में जाना है, बन्धन में नहीं जाना है। गन्तव्य तो मोक्ष है, फिर परिवार के लिये, समाज के लिये, राष्ट्र के लिये, ये सब कर्म क्यों करना पड़ रहा है ? क्योंकि मोक्ष सीधे

नहीं प्राप्त होता है। निष्काम कर्म से सत्वशुद्धि, ज्ञानप्राप्ति, सर्वकर्म संन्यास, ज्ञाननिष्ठा — इस क्रम से मोक्ष मिलता है। शान्ति तुरन्त नहीं मिलती, किन्तु क्रम से अवश्य मिलेगी। सत्वशुद्धि होने पर ईश्वर का भान होगा और उस भान के साथ प्रेम करेंगे तो सारा कर्म समाप्त होगा। फिर कर्म - कर्म नहीं रहेगा, उपासना हो जायेगा। इस सर्वकर्म-संन्यास को ही गीता में पराभक्ति कहा है। संन्यास केवल भगवा वस्त्र पहनना नहीं है।

कोई भी पुरुष वैदिकधर्म का पालन करेगा तो यह क्रम स्वाभाविक ही हो जायेगा। वैदिक दृष्टि में हरेक मानव को जीवन में चार चीज़ों को प्राप्त करने की स्वाभाविक ईच्छा होती है। वैदिक शिक्षित बुद्धिमान व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये चारों की ईच्छा रहती है। इन्हें चार पुरुषार्थ कहते हैं। वह गुरुकुल (विद्यालय) में धर्म की शिक्षा के लिये जाता है, अर्थ के लिये घर आता है, काम के लिये विवाह करता है, और मोक्ष के लिये जंगल में जाता है। जीवन के क्रम में ये चारों आते हैं। फलेच्छा

छोड़कर कर्म करना और ईश्वर की भक्ति करना हमारी संस्कृति है, हमारी सभ्यता है।

आत्मशुद्धि सूक्तम् के छठे श्लोक में भगवान कहते हैं -

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्व-मोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

- भ.गीता (7.28)

इस श्लोक से शुरु करके तीन श्लोकों में भक्ति कैसे तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम् होती है इसे बता रहे हैं। व्यक्ति प्रतिदिन कुछ पूजा का क्रम करता है और कुछ पाठ करता है, यह एक परिपाटी मात्र रह जाता है। अन्दर कोई परिवर्तन नहीं हो रहा है। एक स्थान पर वर्षों से नियमित सत्संग होता था। वहाँ एक दिन कोई नई साधिका आई और सामने किसी आसन में बैठ गई। सत्संग शुरु होने पर एक दूसरी महिला आई और वहाँ बैठी महिला से लड़ने लगी। वह कहने लगी - "मैं बारह वर्षों से लगातार सत्संग

में आ रही हूँ और इसी स्थान पर बैठती हूँ। आज तुम कैसे मेरे स्थान पर बैठ गई ?'' बारह वर्षों से सत्संग करने पर भी बैठने की जगह का मोह तक नहीं छोड़ सकी ! कोई भी परिष्कार नहीं हुआ । ऐसे सत्संग से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? वास्तव में **''येषां त्वन्तगतं पापं''** — जैसे-जैसे मनुष्य भजन करते जाते हैं, वैसे-वैसे पाप धुलने लगता है, पुण्य बढ़ता जाता है ।

उपर्युक्त श्लोक में भगवान कहते हैं कि इस प्रकार पाप अशुद्धि से मुक्त होकर ही मेरा भजन दृढ़ता पूर्वक हो सकता है । ऐसे भक्त द्वन्द्वों से, छोटी-छोटी बातों से विचलित नहीं होते हैं । भाष्यकार आचार्य शंकर ''दृढव्रताः'' के ऊपर लिखते हैं, **''एवम् एव परमार्थतत्त्वं न अन्यथा इति एवं निश्चितविज्ञाना दृढव्रताः** — परमार्थ तत्त्व ऐसा ही है, दूसरे ढंग का नहीं है, ऐसा परमार्थ तत्त्व का सही-सही आंकलन, सही-सही ग्रहण करने वाले ही 'दृढ़व्रता' हैं''। कुछ लोग पूजा में बालकृष्ण डर जायेंगे इस आशय से घंटी नहीं बजाते और आरती नहीं उतारते।

किन्तु वे लोग यह कथा भूल जाते हैं कि वही बालकृष्ण बड़े-बड़े दैत्यों का विनाश किया और आग को पी गया। वह क्या आप की घंटी और कर्पूर आरती से डरेगा ! हम किसकी पूजा कर रहे हैं इसका बोध ही नहीं है मज़हबी को। अतः परमार्थतत्त्व का सही-सही निश्चय करके उनके लिये सर्वपरित्याग करनेवाले भक्त ही दृढव्रता होते हैं — **'सर्वपरित्याग व्रतेन निश्चितविज्ञानाः दृढव्रताः उच्यन्ते'** । भगवान ने गीता में भी अन्तिम में यही बात कही है — **''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज** — सब धर्मों का त्याग करके मेरी शरण लो'' । गीता के अनुसार भक्ति का मार्ग त्याग का ही मार्ग है । स्वर्गलोक का प्रलोभन देकर जो भक्ति का प्रचार होता है वह अवैदिक है। वैदिक दृष्टि में भक्ति में सब कुछ छोड़ना ही है। ईश्वर तत्त्व को जानने में जो भी चीज़ बाधा उत्पन्न करती है उसे धीरे-धीरे छोड़ना है। तभी तो मीराबाई ने गाया — ''मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई।'' जब भक्ति कमजोर होती है तब कुछ संसार और कुछ भगवान की बातें करते हैं।

एक बूढ़ीमाई प्रतिदिन सत्संग में देरी से आती थी। कारण पूछने पर वह कहने लगी कि विष्णु मन्दिर, शिव मन्दिर, हनुमान मन्दिर, सन्तोषी माँ मन्दिर, आदि सभी मन्दिरों का दर्शन करके आने पर देरी हो जाती है। यह पूछने पर कि इतने सारे मन्दिरों में प्रतिदिन क्यों जाती है तो वह कहने लगी कि न जाने कौन देवता कब काम में आवे ! यह दृढ़भक्ति नहीं है।

गीता के उपरोक्त श्लोक के अनुसार आप की भक्ति दृढ़ है या नहीं इसकी पहचान इस व्रत से होता है कि क्या हम त्याग कर सकते हैं? कितना त्याग कर सकते हैं? **"त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः** – त्याग से ही अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है" । परमेश्वर ही एक मात्र अमृत तत्त्व है जिसको मृत्यु स्पर्श नहीं कर सकती है। ये सारी साधना सहज भाव से आनी चाहिये। कोई जबरदस्ती नहीं होनी चाहिये। अपने स्वभाव से, प्रेम से कितना त्याग कर सकते हैं? वह तो बैठे-बैठे देख रहा है। कभी-कभी वह स्वयं परीक्षा भी करता है। जीवन के प्रवाह में कई बार त्याग का

अवसर अपने आप आता है। जैसे ही आयु बढ़ती है, परिस्थिति बदलती है, तो कुछ छोड़ना ही पड़ता है। वृद्ध व्यक्ति का आक्षेप है कि कोई उनसे बात या परामर्श नहीं करता है। स्वयं को समझना चाहिये कि युवा पीढ़ी जो कम्प्यूटर और हाईटेक में रचे-पचे रहते हैं, उसके बारे में वह क्या परामर्श देगा ? परिस्थिति बदलती है तो नई परिस्थिति को समझना ही होगा। जो हमें पहले अच्छा लग रहा था उसे छोड़ना पड़ सकता है। हम स्वयं छोड़ देंगे तो अच्छी बात है। यदि मोहवश नहीं छोड़ेंगे तो भक्ति की तीव्रता में कमी आ सकती है। भगवान हमसे प्रेम करते हैं। जितना हम भगवान को प्रेम करते हैं उससे कई गुना अधिक भगवान हमसे प्रेम करते हैं। हम अपने आप को जानते नहीं हैं, किन्तु भगवान हमें जानते हैं। न तो हम अपने आप को जानते हैं, न भगवान को ही – फिर कैसे प्रेम करेंगे ? फिर भी प्रेम करने का प्रयत्न करते हैं तो भगवान का परिचय होने लगता है।

परमात्मा स्वयं परीक्षा भी लेते हैं । प्रत्येक भक्त, प्रत्येक संत के जीवन में यह परीक्षा का प्रसंग देखने को मिलता है । मूर्ख व्यक्ति कहता है कि सन्तों के जीवन में भी दु:ख क्यों ? सत्य बात तो यह है कि सन्तों के जीवन में ही दिव्य दु:ख आयेगा । बदमाश तो दु:ख आने के पहले ही कुछ रास्ता निकाल लेता है । भगवान परीक्षा लेकर देखते हैं कि भक्त कितना दृढ़ है । जीसस को शूली पर चढ़ाने पर कुछ लोगों ने उनको ही भगवान बना दिया । किन्तु सत्य यह है कि प्रत्येक सन्त, भक्त को शूली पर चढ़ना ही पड़ता है । जीसस क्राइस्ट एक अच्छे महात्मा थे, उनकी भक्ति सच्ची थी । किन्तु वहाँ के राजा उनसे नाराज होकर जेल में बन्द कर दिया और बाद में शूली पर चढ़ा दिया । शूली में कीले ठोक रहे थे तो ईसा के मुख से निकला, "My father, have you forsaken me ?, हे मेरे पिता, क्या आपने मुझे छोड़ दिया ?" इसका आशय यह है कि उस स्तर पर उनका भी दिल डग गया, संशय आ गया । ऐसा लगा मानो भगवान उन्हें छोड़ रहा था । तो क्या भगवान को

आकर चमत्कार से उनको बचाना चाहिये ? उनको विमान में बैठाकर ले जाना चाहिये ? ऐसे भगवान की कल्पना नहीं होनी चाहिये । जब कुछ भी नहीं हुआ तब उनके मुख से निकला – "Thine will be done, आप का संकल्प मुझे स्वीकार है" । यह कहते ही क्राइस्ट मुक्त हुए और प्राण छोड़ दिये । जब अपना संकल्प छोड़ दिया तब उस त्याग से वे आगे बढ़ गये । किन्तु प्रथम संदेह तो आ ही गया था, और परिणामस्वरूप दु:ख भी सहन किया । ऐसे कितने ही क्राइस्ट भारत में हो गये और हो भी रहें हैं । हर युग में सन्त पैदा होते हैं । भारत में कितने ही भीष्म पैदा हुए और भीष्म के साथ-साथ शरशैय्या भी तैयार होती है । जान बूझकर स्वीकार किया हुआ तपोमय दु:ख ही शरशैय्या है । अर्जुन के एक-एक शर को स्वीकार करते थे और अर्जुन के विरुद्ध एक भी शर छोड़ते नहीं थे । हमारे क्राइस्ट तो क्रॉस तैयार करते हैं, स्वीकार करते हैं । मीरा कहती है कि जो सिर काटकर नीचे रख सकता है वही भक्ति की गली में आ सकता है । जैसे पुष्प अर्पण करते हैं वैसे प्रेम से सिर

काटकर अर्पण करना है – ''भुवि धरे''। इसी को भक्ति कहते हैं।

माता कुन्ति एक साधारण गृहिणी थी। किन्तु आत्मशुद्धि के मार्ग में पली थी। इसलिये जब कन्या होते हुए भी कर्ण का जन्म हुआ तो वह सहम गई। देवताओं ने उसे आश्वासन दिया कि उसके धर्म में कोई हानि नहीं हुई है। यह तो वरदान है। फिर भी आखीर तक उसके मन में यह सन्देह खलता रहा कि ''कोई कलंक तो नहीं''। अन्त समय में व्यासजी ने उन्हें उपदेश दिया कि देवताओं का धर्म ही अलग होता है। उनके साथ कुन्ति का शारीरिक सम्बन्ध तो कुछ हुआ ही नहीं है। मंत्र का प्रयोग हुआ है। कुन्ति निर्दुष्ट है। तब ध्यान में बैठकर कुन्ति ने अपने शरीर का त्याग किया। कुरुक्षेत्र का युद्ध समाप्त हुआ। पाण्डवों को राज्य की प्राप्ति हुई। उस खुशी के समय भी कुन्ति रो रही थी। भगवान के पूछने पर कुन्ति ने कहा कि दुःख समाप्त हुआ यही उसके दुःख का कारण है! दुःख चाहिये, दुःख होने पर भक्ति तीव्र होती है। कुन्ति कहती है,

''**विपदः सन्तु नः शश्वत् –** सदा हमें विपदा हो ताकी आप का स्मरण एवं दर्शन होते रहें।'' यह साधक का लक्षण है। दृढ़व्रत इसी को कहते हैं। कोई भी मज़हब का हो, यदि भक्त है तो उन्हें इसका पालन करना होगा।

बयाजिद् नाम के एक मुसलमान पीर थे। वे सदा मस्जिद में ही रहते थे। सच्चा पीर समझ कर लोग उन्हें बहुत मानते थे। उनका सेवक एक लड़का था। वह भिक्षा मांगकर उन्हें खिलाता था। सोते समय प्रतिदिन पीर प्रार्थना करते थे और कहते थे, ''आप ने आज भोजन तो दिया किन्तु दवाई नहीं दी।'' यह सुनते-सुनते एक दिन सेवक ने कहा, ''आप अपनी बिमारी बताईये, मैं दवाई का प्रबन्ध करता हूँ।'' पीर ने उसे समझाते हुए कहा, ''अच्छे-अच्छे लोगों का संग, यही मेरा भोजन है। किन्तु कोई मेरी निन्दा करेगा, मुझे गाली देगा, तो वही मेरी दवाई है। अहंकार को ठीक करने की दवाई यही है। इसलिये प्रार्थना करता हूँ कि कोई निन्दक भी मिले।'' यह भक्ति की हिम्मत है।

तभी भक्ति दृढ़ होगी। यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। साधना से यह मनःस्थिति आ जाती है।

केरल प्रान्त में बहुत वर्ष पहले पून्तानं नाम के एक ब्राह्मण भक्त हुए। वे सीधे-सादे पण्डित गृहस्थ थे। उनके पाण्डित्य को देखकर लोगों ने उन्हें भागवत् की कथा करने का आग्रह किया। लोगों के आग्रह पर उन्हों ने कथा की। उनकी कथा में मुग्ध लोगों ने उन्हें आग्रह किया कि वे भागवत् पर टीका लिखें। अतः पून्तानं ने टीका लिखना प्रारम्भ किया। कभी-कभी ऐसे कोई शब्द या पद आते जिसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता था। तब वहाँ एक प्रश्न-चिन्ह लगाकर छोड़ देते थे। उनके इष्ट देव का मन्दिर घर में ही था। वहीं बैठकर लिखते थे, और वहीं छोड़कर सो जाते थे। प्रातः उठकर देखते थे तो प्रश्न चिन्ह के जगह पर सही-सही अर्थ लिखा हुआ मिलता था। उनके वैवाहिक जीवन के बहुत वर्ष बीत चुके थे, किन्तु उनको कोई सन्तान प्राप्ति नहीं हुई थी। अतः भगवान से उनकी निकटता को देखकर उनकी पत्नी उनसे आग्रह करने लगी

कि एक संतान के लिये भगवान से प्रार्थना करें। पून्तानं ने कहा, "मैं लौकिक कामनाओं के लिये भगवान से प्रार्थना नहीं करूँगा।" परन्तु उस बात को भगवान सुन ही लिये। कुछ ही समय में पून्तानं के घर में पुत्र का जन्म हुआ। दम्पति को तो प्रसन्नता हुई ही, उनके स्नेही भक्तों को अपार हर्ष हुआ। नवजात बालक का दर्शन करने के लिये लोग उमड़ पड़े। छोटी सी कुटिया में इतनी भीड़ हुई कि उस बालक ने श्वासावरोध के कारण प्राण छोड़ दिये। सबको असह्य वेदना हुई। पण्डितजी का तो लेखन आदि सब बन्द हो गया। कुछ दिन बाद पण्डितजी ने एक कागज में लिखा, "मुझे यह पीड़ा क्यों दी ?" कागज भगवान के सामने रखा गया। दूसरे दिन प्रातः उस पर लिखा हुआ मिला – "मैं न देता हूँ, न लेता हूँ। मैं सबकुछ हूँ। " यह उनकी अन्तिम दीक्षा थी। उनकी ग्रन्थि टूट गई। उनको परम भक्ति प्राप्त हो गई। लिखना बोलना सब कुछ बन्द हो गया। पून्तानं परमानन्द में मग्न होकर बैठ गये।

ॐ

वह्निस्थानं शक्तिमूलं सद्ब्रह्मग्रन्थिभेदनम् ।
वेदारं भुवनाधारं भुजंगशयनं भजे ॥ 1 ॥

विष्णुग्रन्थिविनिर्मुक्तं चिदादित्यं हृदम्बरम् ।
द्वादशारमहापद्मं अनाहतालयंश्रये ॥ 2 ॥

भ्रुकुटी मध्यकूटस्थं रुद्ररोध विदारणम् ।
द्विदलं चिन्तनातीतं आज्ञाकमलमाविशे ॥ 3 ॥

नमः शिवाय शान्ताय द्वादशान्ताय शम्भवे ।
संविदानन्दकन्दाय सोमायामृतसेतवे
संविद् गुरुस्वरूपाय सोमायामृत सेतवे ॥ 4 ॥

प्रवचन – 6

अमृत प्राप्ति मानव जीवन का परम लक्ष्य है । अनुभव तो मृत्यु का हो रहा है किन्तु अमृत की आस्था है। साधक उस आस्था को लेकर इस जीवन की यात्रा करता है। उस लक्ष्य प्राप्ति के लिये इस जीवन–यात्रा को यज्ञमय बनाना होगा। वेद का आह्वान है कि यज्ञ का आश्रय लेने से आप को वह शक्ति प्राप्त होगी जिससे मृत्यु के हर रूप को आप जीत सकेंगे, पार कर सकेंगे। वैदिक ऋषियों ने सृष्टि के रहस्य को समझ कर यह निर्णय लिया कि मानव की दृष्टि में यह सारी सृष्टि एक लीला मात्र है। इसलिये यदि इस सृष्टि को सार्थक बनाना है तो हमें भी खेलना होगा।

जीवन को एक व्यापार बनाने से मृत्यु के दल-दल में और अधिक धसते जायेंगे। मृत्यु के इस आवर्त में पड़ने से कितनी भी गति करेंगे तो भी वहीं चक्कर काटते रहेंगे। घूम फिर कर वहीं आ जाते हैं। गति तो होना ही चाहिये, प्रवाहित तो होना ही है। सारी गति रुक जाने से जो स्थगन की स्थिति है वह अमृत की प्राप्ति नहीं है। अगर कोई हलचल नहीं होगी, प्रवाह नहीं होगा, तो सारी सृष्टि निरर्थक होगी, एक धोखा होगी। अखण्डस्वरूप, अगम्य महिमा सम्पन्न परमेश्वर इस सृष्टि को बना रहा है, निभा रहा है। उन्हें इस सृजन के पीछे कोई कार्य, आयोजन या प्रयोजन नहीं हो सकता है। परिपूर्ण परमेश्वर निष्प्रयोजन ही संसार का सृजन करता है, इसलिये वह बहुत ही कलात्मक है। किसी प्रयोजन से कोई कार्य करेंगे तो वह व्यवहार व्यापार हो जाता है। उसमें कला का कोई स्थान नहीं है। हम अब इस दर्शन की सुन्दरता में नहीं जायेंगे। हमारा प्रसंग यही है कि मृत्यु को कैसे पार करें।

मृत्यु एक अशुद्धि है, क्योंकि वह अमृतदर्शन को

ढक देती है। वह माया, काल, अविद्या आदि विभिन्न नामों से जाना जाता है। वह अनन्त सत् विस्तार को छुपा देता है। जो भी देखने में आता है, वह अन्त वाला है। एक का अन्त होने पर दूसरा दिखता है, वह भी अन्त होने के लिये। एक क्षितिज, उसके पीछे और एक क्षितिज, ऐसे क्षितिज का अन्त नहीं है। जहाँ पृथ्वी आसमान से मिलता हुआ सा नजर आता है उसे क्षितिज कहते हैं। यह केवल एक आभास मात्र है, optical illusion है। इसका अन्त तो हो ही नहीं सकता। सीमा हो तो पहुँच सकता है, किन्तु वहाँ कोई सीमा ही नहीं है। उसे कभी भी पकड़ नहीं सकता है। यही माया का स्वरूप है। यह वैज्ञानिक दर्शन है। केवल एक आकाश तत्त्व ही कहीं गोल-गोल बना है, तो कहीं गेंद बनकर घूम रहा है, और ये सारे दिखाई देता है। गेंद खेलने के लिये ही है। फिर लोग खेलते क्यों नहीं हैं ? इतना serious, रोना, झगड़ना क्यों ? क्योंकि हम खेलना नहीं जानते हैं। गलत खेल रहें हैं। छल करके मृत्यु को जीत नहीं सकते हैं। माया तो स्वयं छल स्वरूप है, फिर

उसे छल से कैसे जीतेंगे ? माया मृत्युरूप को खड़ा करती है। जादूगर एक विशेष माया को फैलाते हैं जो सचमुच नहीं है, किन्तु दिखाई देता है। इस माया से कोई लड़ नहीं सकता है, किन्तु उसके परे जाना है।

एक गाँव में एक जादूगर अपना खेल दिखा रहा था। गाँव वाले आश्चर्य से देख रहे थे कि जादूगर खेल-खेल में एक बहुत भारी लकड़ी को उठा लिया। इतने में एक किसान सिर पर घास की गठरी लिये वहाँ से पसार हो रहा था। वह कौतूहलवश वहाँ ठहर गया। उसे तो दिखाई दिया कि जादूगर लकड़ी नहीं उठा रहा था, अपितु लकड़ी के ऊपर खड़ा था। जादूगर ने उसके सिर से गठरी गिरा दिया तो उसे भी जादू का असर हुआ। पहले उसने सही-सही देखा था क्योंकि गठरी में कोई ऐसी जड़ी बूटी थी जिसके सामने जादूगर का जादू काम नहीं कर रहा था। इसी प्रकार महात्मा लोग भी जगत की माया को हटानेवाली एक जड़ीबुटी लेकर आते हैं जिससे माया का असर नहीं होता है। जगत को उसके असली रूप में प्रकट

करती है। वेद ही वह जड़ीबुटी है जिससे माया का असर निरस्त हो जाता है। वेद माया के परे जाने का उपाय बतलाते हैं **–'असतो मा सत् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय'**। यह मृत्यु का प्रवाह एक आरोप मात्र है। उसके अधिष्ठान में अमृत का प्रवाह है। अमृत का समुद्र उमड़ रहा है, हम उसके एकाद लहर या फेन को ही देखते रहते हैं। समुद्र को समझने का प्रयास नहीं करते हैं। जहाँ मृत्यु है वहीं अमृत भी है। **'अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहेप्रतिष्ठितम् –** अमृत और मृत्यु दोनों इस शरीर में प्रतिष्ठित हैं'। मनुष्य शरीर में मृत्यु तो है ही, अमृत भी है। अमृत और मृत्यु को एक जगह देखने की शक्ति मनुष्य शरीर में है।

'वह्निस्थानं शक्तिमूलं वेदारं' – इस कीर्तन में इस शक्ति के पथ का वर्णन है। चार दलकमल मुलाधार में है, वह अग्नि का स्थान है। हृदय में बारह दलवाला कमल है, वह सूर्य का स्थान है। सहस्र दल वाला कमल सहस्त्रार में है जहाँ चन्द्रमा अमृत की वर्षा कर रहा है। मानव शरीर ही

अमृत पाने का साधन, अमृतसेतु है । इस सेतु को पार करना होगा । मृत्यु को स्वाहा करने की तीनों अग्नि अपने शरीर में ही है । अग्नि में स्थूल को, सूर्य में सुक्ष्म को, और सोम में कारण को स्वाहा करना है । तीनों अग्नि अपने अन्दर ही हैं, उन्हें जागृत करना है, शक्ति जागरण करना है । इसका सारा साधन शास्त्र में दिया हुआ है, केवल हमको ध्यान-अभ्यास द्वारा इसे अपनाना है । ध्यान मात्र से उस शक्तिप्रवाह से जुड़ जायेंगे । साधना से वह शक्ति जागृत हो जायेगी । **'प्रकाशमानां प्रथमे प्रयाणे प्रतिप्रयाणे अमृतायमानां'** । वह शक्ति अमृत को प्रकट करेगी । जो माया मृत्यु दिखा रही थी, वही अमृत पिलायेगी । अविद्या-माया मृत्यु का कारण है और विद्या-माया अमृत का कारण है ।

अशुद्धियों को खेल-खेल में धो डालना है, पार करना है । मनुष्य का स्वभाव है कि अपनी कमजोरी, अपनी असमर्थता दूसरों पर डालता है । इसलिये कहावत है कि 'नाच न जाने तो आंगन टेढ़ा' । क्रिकेट में हारने पर

कहते हैं ''पिच'' खराब है । वेदान्त खेलने का तरीका सिखाता है, नाचने की कला सिखाता है । मृत्यु के पार जाना एक कलात्मक प्रक्रीया है, इसमें टेक्नोलोजी नहीं है । अन्त में हम उसी पर प्रकाश डालेंगे । आत्मशुद्धि सूक्तम् के अन्तिम श्लोक में ज्ञान के कल्मष के बारे में कहते हैं —

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

– भ.गीता (5.17)

कर्म और चित्त के कल्मष के बाद, अब बुद्धि के, ज्ञान के कल्मष की बात आती है । ज्ञान के लिये बुद्धि चाहिये । हमारे अन्दर विशुद्ध ज्ञान को प्रकाशित करने की शक्ति भी बुद्धि में है । **'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'** । एकाग्र, सूक्ष्म और सूक्ष्म दृष्टि वाली बुद्धि से ही यह सम्भव है । इसलिये तीन स्तरों में शक्ति का जागरण और तीन स्तरों में अशुद्धियों का स्वाहा होता है । **'तद् बुद्धय'** । तद् शब्द ईश्वर के लिये और त्वम् शब्द

जीव के लिये होता है। जिसने सतत भजन किया है वह ईश्वर को ही सर्वत्र देखता है। सतत भजन करने से माया का प्रभाव नष्ट होता है। वह बूटी का काम करता है। भगवान कहते हैं, "**मम माया दुरत्यया** – मेरी माया को कोई पार नहीं कर सकता है।" "**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायां एतां तरन्ति ते** – जो कोई मेरी ही प्रपत्ति करते हैं, मेरे ही शरण में आते हैं, वे इस माया को सहज पार करते हैं।" इसके पूर्व आत्मशुद्धि सूक्तम् के आठवें श्लोक में भगवान कहते हैं –

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

– भ.गीता (14.26)

– "जो अव्यभिचारिणी भक्ति करके मेरा भजन पूजन करता है वह समस्त गुणों को पार करता है।" त्रिगुण ही माया है। वह "**ब्रह्मभूयाय कल्पते**" – ब्रह्म बनने योग्य, ब्रह्म के साथ एक होने योग्य हो जाता है। गीता के अठारवें अध्याय में भगवान कहते हैं –

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचनि न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

– भ.गीता (18.54)

– "ब्रह्मभूत पुरुष न तो कोई शोक करता है, न इच्छा ही करता है। सभी में और अपने में भी वह ईश्वर को देखता है और मेरी पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है।" जब यह पराभक्ति आयेगी तब ज्ञानचक्षु खुलेंगे और ज्ञान से देखेंगे। उसके लिये ये तीन सीढ़ी बताये गये हैं – 'तद्बुद्धि' 'तदात्मा' 'तन्निष्ठा'। **'तद्बुद्धि'** - उसकी बुद्धि सभी जगह ईश्वर को ही देखेगी। स्वर्णकार सभी जगह सोना ही देखता है। उसको जहाँ कहीं भी सोना हो, उसका ही दर्शन होता है। उसकी दृष्टि ही र्स्वणमय है। उसी प्रकार जिसका जीवन ईश्वरमय है वह पापी में भी छुपे हुए ईश्वर को ही देखेगा। यह केवल कल्पना नहीं है, ईश्वर वहाँ है ही। सर्वत्र व्याप्त एक सत् है, पाप में भी वह सत् है, पाप केवल आरोपित है। "तद्बुद्धय" उस 'सत्' को देखेंगे, पाप को नहीं देखेंगे। भाष्यकार "विवेकचूडामणि" में

कहते हैं कि आँख कहीं भी जायेगी तो रूप को ही देखेगी, वह शब्द को नहीं देख सकती। उसी प्रकार भक्त वह सत् को ही सब जगह देखता है। ब्रह्मवेत्ता के लिये सत् के सिवा ग्रहण करने के लिये और क्या है ? यह बुद्धि का अनुशासन हो गया कि सत् को पकड़ो, असत् को मत पकड़ो। किन्तु सामान्य सभी को असत् को ही पकड़ने में मजा आता है। सत् को पकड़ने में बहुत कठिनाई होती है, जब कि असत् को पकड़ना आसान है। किसी की भी निन्दा सुनना लोगों को बहुत अच्छा लगता है। बहरे लोग भी निन्दा की बात बहुत जल्दी सुन लेते हैं। इसी को माया कहते हैं। ''तद्बुद्धय'' ईश्वर को ही देखते हैं क्योंकि वही उनका अभ्यास है।

''तदात्मानः'' — केवल देखते ही नहीं हैं, जो दिखता है उसे प्रेम भी करते हैं। आत्मा प्रेमास्पद है। अतः ''तदात्मा'' वह है जिसकी ईश्वर में आत्मीयता और प्रियता प्रकट होती है। फिर होगी **''तन्निष्ठा''**। इस में ईश्वर-प्रियता अव्यभिचारिणी होगी। ''**नितरां स्थिति**'' को ही निष्ठा

कहते हैं। कभी यह अच्छा लगता है, तो कभी वह। इसी को संस्कृत में व्यभिचार कहते हैं। अग्नि के बिना धुंआ नहीं होता है। नियम का कहीं अपवाद हुआ तो कहते हैं कि ''यह व्याप्ति का व्यभिचार हो गया। नियम टूट गया - यहाँ अग्नि के बिना धुंआ हो गया।'' इसी बात को भगवान पहले ही कह चुके हैं — ''**मां च योव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते**''। हम लोगों की भक्ति व्यभिचारिणी भक्ति है। ईश्वर भक्ति के साथ-साथ पोते-परपोते की भक्ति भी करते हैं। प्रायः परपोते की भक्ति ही बलवती होती है। सब से प्रेम कर सकते हैं, किन्तु ईश्वर के रूप में। परपोता भी ईश्वर का ही रूप है। ईश्वर को भूल कर उससे प्रेम करना आसक्ति होगी। इस सुक्ष्म भेद को समझना होगा। ईश्वर-भक्ति होने पर संसार से द्वेष करेगा ऐसा नहीं है, उल्टा संसार से सही प्रेम होगा।

अव्यभिचारिणी भक्ति के सन्दर्भ में सन्त तुलसीदासजी अपनी ''दोहावली'' में बहुत सुन्दर उदाहरण देते हैं —

मकर उरग दादुर कमठ जलजीवन जल गेह।
तुलसी एक ही मीन को है साँचलो सनेह॥

— मगर, साँप, मेढ़क, कछुवा, मछली, ये सभी जल जीव हैं, और जल में रहते भी हैं। किन्तु जल से सच्चा प्रेम तो एक मछली का ही है, क्योंकि वह जल के बाहर आते ही मर जाती है। मगर, साप आदि जल से बाहर, जल के बिना भी रह पाते हैं। मछली जल के बिना एक क्षण भी नहीं रह पाती। यही अव्यभिचारिणी भक्ति है।

क्षणार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं बिना।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्या सनकाद्या शुकादयः॥

— ब्रह्मा आदि संसार संचालक देव, सनक आदि ऋषि, शुकदेव आदि सन्तजन, ये सभी एक क्षण के लिये भी ब्रह्मवृत्ति को छोड़ नहीं सकते हैं। यह है सच्चा स्नेह। इसी को निष्ठा कहते हैं। इसी को **"ब्रह्मभूयाय कल्पते"** कहते हैं।

"तेषामेवानुकम्पार्थं" — भगवान कहते हैं कि जो

इस प्रकार ईश्वर के साथ अटूट सम्बन्ध, सतत भक्ति करते हैं उनके ऊपर ईश्वर अनुकम्पा करते हैं। अब झिल्ली तोड़ने का, रुद्रग्रन्थि खोलने का समय आ गया। इससे पहले ऐसा नहीं कर सकते। अब यह जीव स्वतंत्र होकर जी सकता है। सभी साधनाओं से निरपेक्ष होकर जीने की पात्रता प्राप्त की है। यह ग्रन्थि खोलने का काम गुरु के रूप में भगवान ही करते हैं। किसी की ग्रन्थि वैसे ही खोल देते हैं और किसी की ग्रन्थि शल्यक्रिया से काटना पड़ता है। गत अध्याय के अन्त में देखा कि भक्त पून्तानं को ऐसे ही शल्यक्रिया की प्रक्रिया से गुजरना पड़ा। पून्तानं भक्त था, ईश्वर दृष्टिवाला था। फिर भी इस बात को वह समझ नहीं पाया कि क्यों उसे पुत्र प्रदान करके फिर दस दिन बाद ही उसे वापस लेकर अपार पीड़ा सहन कराया।

यह बहुत सूक्ष्म बात है। भगवान ने लिखा था, "मैं न लेता हूँ, न देता हूँ। मैं सब कुछ हूँ।" भगवान ही पिता के रूप में हैं और पुत्र के रूप में भी वही हैं। पीड़ा दी तो उसे भी भगवद् रूप देखना था, उसे भोगना नहीं चाहिये

था। इस भोक्तृत्व को भी छोड़ना होगा। कर्तृत्व पहले ही छूट गई थी। कर्तृत्व ब्रह्मग्रन्थि है और भोक्तृत्व विष्णुग्रन्थि है। इन दोनों ग्रन्थियों के बाद रुद्रग्रन्थि है, जो ज्ञातृत्व को विषय करती है। उसके लिये भगवान को स्वयं गुरु रूप में आना पड़ता है। "मैं उन्हें कैसे जानूँ", "जान गया कि नहीं", आदि संशयरूपी कल्मष को भगवान स्वयं हटायेंगे। **"ज्ञानदीपेन भास्वता" —** भगवान उन्हें ज्ञान का दीपक जलाकर देते हैं। भक्त जब अनुकम्पा के योग्य हो जाते हैं, तब भगवान स्वयं ज्ञान का दीपक जलाते हैं। जिनके आँख में पर्दा है वे जलाया हुआ दीपक को भी नहीं देख सकते हैं। पराभक्ति होने पर ही ज्ञानदीपक जलता है। **"ज्ञाननिर्धूत कल्मषाः"** — कल्मष का नाश होना आवश्यक है।

महर्षि वेदव्यासजी ने अपने पुत्र शुकदेवजी को इस विषय में जो ज्ञान दिया था, वह यहाँ स्मरणीय है। वेदव्यासजी शुकदेवजी को पूरा ज्ञान प्रदान करने के पश्चात् कहते हैं कि ज्ञानाग्नि जल जाने पर सभी कर्मों का नाश

होगा। गीता में भगवान भी कहते हैं **— "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा —** ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है।" फिर भी —

ज्ञानाग्निरपि संजातः प्रदीप्तः सुदृढ़ोपि च।
प्रदग्धुं नैव शक्नुयात् कल्मषप्रतिबंधितः॥

ज्ञानाग्नि अच्छी तरह से जली हुई है, सुदृढ़ है, फिर भी आग का असर नहीं होता है क्योंकि कल्मष से प्रतिबन्धित है। उसमें गर्मी नहीं है। केदारनाथ में एक घंटा चूल्हा जलाकर दाल को पकाने पर भी दाल पकती नहीं है,क्योंकि वहाँ प्राणवायु के अभाव में आग में गर्मी नहीं होती है। वहाँ आग पर प्रतिबंधन पड़ा हुआ है। आग जलेगी किन्तु गर्मी नहीं होगी।

असंभावना, विपरीतभावना और संशयभावना, इन तीनों में से एक भी रहेगा तो वह प्रतिबंधन होगा। कभी-कभी ये तीनों ही रहती हैं। जिसने गुरु से श्रवण नहीं किया हो, ऐसा अशिक्षित असंभावना-कल्मष का शिकार है।

ब्रह्म जैसा कुछ है ऐसा उनको लगता ही नहीं है , संभावना ही नहीं है । वह मानता है कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जिसको जानने के बाद सब कुछ जाना जाता है । दूसरी है विपरीतभावना । ऐसे लोगों को कुछ समझायेंगे तो उल्टा ही समझते हैं । ब्रह्म का उपदेश सुनने के बाद परिपूर्णता देखना चाहिये । किन्तु विपरीतभावना वाले उसमें शून्यता ही देखते हैं । पूर्ण को शून्य समझना ही विपरीतभावना है। संशयभावना वाले पूर्णब्रह्म की प्राप्ति के विषय में संशयग्रस्त रहते हैं –"पूर्ण ब्रह्म की कल्पना केवल एक बौधिक समझ है । It can only be intellectual, theoretical. But it cannot be experienced. If it can be experienced, has anybody experienced it ?"

संशयभावना हो तो कितने ही सुन्दर उपदेश सुनने पर भी उसका असर नहीं होगा । ज्ञान समझ में तो आता है किन्तु उसका असर नहीं पड़ता है । ज्ञान होते ही मुक्ति मिल जानी चाहिये और आनन्द का अनुभव होना चाहिये । अन्तिम ग्रन्थि यह आनन्द का आवरण है, झिल्ली है । उसे

तोड़ना है । सत् और चित् को बुद्धि से, intellectually समझ सकते हैं । किन्तु आनन्द को कभी भी बुद्धि से अनुभव नहीं किया जा सकता है । आनन्द वहाँ है जहाँ कोई भी सीमा नहीं होती है । अखण्ड में ही आनन्द है – **"योवै भूमा तत् सुखं"** । अशुद्धि के कारण अखण्डता का अनुभव अहं रूपेण नहीं हो रहा है ।

साक्षित्व भावना तोये विरतिः तत्र मृत्तिका ।
अनात्माध्यास–दौर्गंध्यं ताभ्यां प्राक्षालयेत् बुधः ॥

– 'साक्षित्वभावना को जल, और वैराग्य को साबुन समझकर इन दोनों से चित्त को धोने पर अनात्मध्यास रूपी दुर्गंध मिट जायेगी ।' शुद्धि के प्रकरण में भक्त पून्तानं जैसा साधक साक्षित्वभावना से सब कुछ स्वीकार करता है । यह शुद्धि के एकदम शिखर की बात है । उस में **"विरतिः तत्र मृत्तिका"**, वैराग्य आना चाहिये । सभी इच्छायें मिट जानी चाहिये । फिर भी आनन्द नहीं आता है, क्योंकि केवल साक्षित्व भाव है । केवल साक्षित्वभाव होने से काम नहीं चलेगा, शिवभाव आना चाहिये । **"शिवोऽहं –** मैं शिव

हूँ।" "मैं देखने वाला हूँ, मैं न करने वाला हूँ, न भोगने वाला हूँ" — यह वैराग्य की सीमा है। किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं है। किन्तु यह कोई प्राप्ति भी नहीं है। "मैं साक्षी हूँ", इस स्थिति में बहुत सारे दुखों से बच जायेंगे। सम्भवतः संसार से भी बच जायेंगे। किन्तु ईश्वर प्राप्ति नहीं होगी, आनन्द नहीं मिलेगा। इसलिये जो योग-योग कह कर ध्यान में ही लगे रहते हैं उन्हें वेद चेतावनी देता है कि जब तक ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होगी तब तक मुक्ति संभव नहीं है। प्रलयान्त तक समाधि लगा कर बैठने पर भी सृष्टि के प्रारम्भ में जन्म लेना पड़ सकता है। इसको प्रकृतिलीन अवस्था कहते हैं। कोमा (coma) में जाने पर कुछ मालूम नहीं पड़ता है, किन्तु वह अच्छा है क्या ? वह जीवित है, इसलिये रखा हुआ है। किन्तु हमारे लिये तो वह मरा हुआ ही है, उसको स्वयं के लिये भी मृत अवस्था जैसी ही है। उसे कोई अनुभव नहीं हो रहा है। आप क्या हैं ? आप को क्या अनुभव हो रहा है ? यही महत्व का है। प्रारम्भ से ही हम "अहं" के शोधन की बात कह रहे हैं।

सब से अन्त में "कैवल्योपनिषद्" का आश्रय लेते हैं —

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स श्रृणोम्यकर्णः।
अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्॥

वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्
न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्मदेहेन्द्रियबुद्धिरस्ति।
न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च॥

एवं विदित्त्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम्।
समस्तसाक्षि सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्॥

(कै.उ. 21, 22, 23)

— "मैं अपनी अचिन्त्यशक्ति से बिना पैर चलता हूँ, बिना आँख देखता, बिना कान सुनता हूँ। मैं अलग अलग रूप धारण कर सब को जान लेता हूँ। पर मुझे कोई नहीं जान सकता, क्योंकि सदा चैतन्य स्वरूप हूँ।

इस प्रकार सभी वेदों द्वारा मेरा ही प्रतिपादन है। मैं ही व्यास आदि ऋषियों के रूप में इस प्रतिपादन का

सिद्धान्त वेदान्त परंपरा का निर्वाह करता हूँ, मैं ही योग्य साधक होकर वेद के तात्पर्य को ग्रहण करता हूँ।

मुझे पुण्य-पाप का लेप नहीं । मेरा शरीर-जन्म-इन्द्रिय-बुद्धि नहीं होते हैं, अतः मेरा कभी नाश नहीं होता। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि सृष्टि के कोई भी तत्त्व मुझ में नहीं है।''

इस प्रकार परमात्मरूप को आत्मत्वेन जो जान लेता है वह अपने हृदयस्थित, निष्कल, अद्वितीय, सत्-असत् कोटिरहित, समस्त साक्षी, विशुद्ध परमात्मरूप को प्राप्त हो जाता है।'

ये शुद्धता की पराकाष्ठा हैं । यही परमात्मरूप है । किन्तु परमात्मप्राप्ति के बाद भी आनन्द नहीं आया !

सरस्वतीजी ब्रह्माजी से कहने लगीं कि उनके बेटे सनकादि घर आते ही नहीं हैं। भ्रमण ही करते रहते हैं। माता पिता को मिलने भी नहीं आते हैं। ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि उनके लिये अब कोई माता-पिता नहीं हैं, वे मुक्त

हो गये हैं। सनकादि इतने सत्वगुणसम्पन्न थे कि जन्म लेते ही उन्हें जिजीविषा हुई। ''हम क्यों उत्पन्न हुए, संसार क्यों उत्पन्न हुआ'', आदि प्रश्न उनके अन्दर होने लगे । अतः उस ज्ञान की प्राप्ति के लिये वे घर छोड़कर उत्तर की ओर चलने लगे। कैलाश में महावटवृक्ष के नीचे श्री दक्षिणामूर्ति का दर्शन हुआ। उनके दर्शन मात्र से सारे पाप मिट गये। चिन्मुद्रा देखते ही सब संशय मिट गये। अपार आनन्द का अनुभव करते हुए वे विचरण करने लगे। ब्रह्माजी ने ये सब बातें सरस्वतीजी को बताया। सुनकर सरस्वतीजी को भी दक्षिणामूर्ति के दर्शन की लालसा हुई और वे भी ब्रह्मा के साथ उत्तर की ओर चल पड़े। सरस्वतीजी दक्षिणामूर्ति के दर्शन कर अभिभूत हो गईं और स्तुति करने लगीं —

शान्तं शारदचन्द्रकान्तिधवलं चन्द्राभिरामाननम् ।
चन्द्रार्कोपमकान्तिकुण्डलधरं चन्द्रांकुरालंकृतम् ॥

वीणापुस्तकमक्षसूत्रवलयं व्याख्यानमुद्रां करैः ।
विभ्राणं गुरुपुंगवं हृदि सदा श्रीदक्षिणास्यं भजे ॥

– "शरदपूर्णिमा के चन्द्र के जैसे उनकी धवल कान्ति है। मुख तो चन्द्रमा जैसा ही लग रहा है। चन्द्र और सूर्य की कान्तियुक्त कुण्डल धारण किये हैं। द्वितीया का चन्द्रमा उनके मुकुट में विराजमान है।"

सरस्वतीजी की स्तुति सुनकर शिवजी मुग्ध हो गये और प्रसन्न होकर दोनों हाथों से वीणा बजाने लगे। ब्रह्माजी देखते ही रह गये कि ये गुरु वीणा बजाते हैं ! भगवान शिवजी की वीणा सुनकर ब्रह्माजी स्वयं पिघलने लगे। सरस्वतीजी ने देखा कि ब्रह्माजी पिघल रहे हैं। तुरंत उन्होंने अपने दोनों हाथों से उस जल को ले लिया। वह जल उछल कर बहने लगा और वह सरस्वती नदी कहलाने लगी। सरस्वतीजी ने छू लिया तो ब्रह्माजी फिर से स्थिर बन गये। सरस्वती के पूछने पर ब्रह्माजी कहने लगे कि दक्षिणामूर्ति शिक्षा नहीं देते हैं, अपितु आनन्द देते हैं। आनन्द में सब कुछ लीन हो जाता है।

सत्य को हम कोई equation में नहीं डाल सकते हैं। साधारण लोगों के लिये ऐसा कुछ करना पड़ता है।

किन्तु वास्तव में परमसत्य तो केवल अनुभूति है, रसानुभूति है। अतः उसको व्यक्त करने वाला वेदान्त कलात्मक है। वेदान्त हमारे जीवन का प्राण है। हम क्यों कलात्मक नहीं होते हैं ? कोई मलिनता ही इसका कारण है। शरीर-बुद्धि और इन्द्रिय-बुद्धि में आत्मकला नहीं आ सकती है। आत्मकला अमृतकला है। हर कार्य में हमारे एक प्रतिबंधन होता है। इस स्तर में आने पर सारे कर्म इन्द्रियों से नहीं, आत्मा से ही होते हैं। कतिपय उच्च कोटि के कलाकार इसे मानते हैं। ऐसे लोगों को ब्रह्मानुभूति के समान अनुभव होते हैं। इसलिये उनको हमारे शास्त्रों में एवं समाज में उच्च कोटि का स्थान प्राप्त है। मन्दिरों में भी गानेवालों और नाचनेवालों की एक अलग व्यवस्था थी। यह बात दूसरी है कि आगे जाकर इनका दुरुपयोग होने लगा।

अभी हमारे समय में ही सुधा चन्द्रन नाम की एक विख्यात नृत्यांगना हुई थी। कोई दुर्घटना में उनके एक पैर में गहरी चोट लगी और उसे काट देना पड़ा। सभी को

बड़ा दुख हुआ कि अब उनका नाचना बन्द हो गया। किन्तु कुछ समय के पश्चात् जब सुधा चन्द्रन ने एक प्रस्तुति दी तो लोग दंग रह गये। लोगों को विश्वास ही नहीं हो रहा था। वे कृत्रिम 'जयपुर पैर' लगा रखी थीं। उससे चलना फिरना तो हो सकता था किन्तु नाचें कैसे ? यही आश्चर्य की बात थी। सुधा चन्द्रन से पूछने पर उनका जवाब था, "नृत्य के लिये पैरों की आवश्यकता नहीं है, अपितु आत्मा का रस चाहिये।" इस छोटे से वाक्य से उन्होंने बहुत कुछ कह दिया। ऐसे ही कृत्रिम पैर से किसी ने एवरेस्ट पर्वत पर चढाई की थी। ये सब आप को क्या सन्देश देतें हैं ?

"अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः"

इस उपनिषद् मंत्र में आत्मा को जीभ के बिना बोलने वाला और कर्ण के बिना सुनने वाला बताते हैं। इसलिये आत्मस्थिति में रहेंगे तो इन सब कर्मों का आनन्द स्वयं प्राप्त होगा। सत्य यह है कि आनन्द उसी में है। बिना

कोई उपाधी के "स्व" अनुभव करना है। स्व का अनुभव करें, स्व में रहें और स्वस्थ रहें। बाकी सब अशुद्धि है। **'शुद्धं परमात्मरूपं' –** यह आनन्दघन परमात्मा ही एक मात्र सबसे शुद्ध तत्त्व है। इसे प्राप्त करने के पश्चात् "अब इसके आगे क्या करें !", यह प्रश्न ही नहीं उठेगा। जब तक अशुद्धि है तब तक शुद्धि का साधन करते रहना है। श्रवण आदि के द्वारा सारा ज्ञान प्रामाणिक व पूर्ण होने के पश्चात् भी शुकदेवजी के मन में संशयभावना बनी रही कि उन्हें ब्रह्मज्ञान हुआ कि नहीं। संशयनिवृत्ति के लिये राजा जनक के पास पहुँचे। जनक ने परीक्षा करके देखा कि शुकदेव का ज्ञान तो पूर्ण है, केवल एक भ्रम ही बाकी है। इसलिये जनकजी बोलते हैं, **"मुक्तस्त्वं भ्रांतिमुत्सृज –** हे शुक, तुम मुक्त हो, अपनी भ्रांन्ति को हटाओ" । इतने ही शब्दों से शुकदेवजी स्वस्थ हो गये। अपनी पूर्णता का अनुभव होने तक आत्मशुद्धि की साधना होती रहेगी।

उपसंहार

“आत्मशुद्धि” के ऊपर विचार किये बिना किसी भी संवित् विषय के ऊपर हम विचारविमर्श नहीं कर सकते हैं। यह कोई नया विचार नहीं है। इस को लेकर प्रत्येक मानव के अन्दर श्रद्धा, निष्ठा जागृत होती ही है। मात्र उसे सुदृढ़ करना है। जो आलोक है उसे और तीव्र करना मात्र है। अखंड, अलिप्त, असंग, आत्मस्वरूप का अनुभव करना है। वेदान्त शास्त्रों में दिये उपदेश अनुसार प्रयत्न करना है। नये नये अनुष्ठान का प्रयास नहीं करना है। कई साधक कुछ नये बनने का, कुछ बदलने का प्रयास

करके गलती कर बैठते हैं। हमें कुछ नहीं बनना है। जो बनेगा वह बिगड़ेगा ही।

चूहा और महात्मा की पुरानी कथा प्रसिद्ध है। महात्मा के कुटिया के पास रहने वाले चूहे पर दया करके उसे बिल्ली से बचाने के लिये महात्माजी ने उसे बिल्ली बना दिया। बिल्ली को कुत्ता से बचाने के लिये उसे कुत्ता बना दिया और आखिर उसे बघेरा बना दिया। बघेरा बनाने पर भी उसके भय का अन्त न होते देखकर महात्माजी ने उसे पुनः चूहा बना दिया। जैसे हैं वैसे ही बने रहने में भलाई है। कुछ नये बनने का तो कोई अन्त ही नहीं है। आत्मबल से जीने का प्रयास होना चाहिये। आत्मा पर्याप्त है, परिपूर्ण है, असंग है और अमृत है। अपने आप को ही ठीक समझना है। आत्मशुद्धि का यही रहस्य है।

हमें आत्मविश्वास नहीं है, इसलिये यह कठिन मालूम होता है। हमारे अन्दर सब कुछ है। हमारे अन्दर अशुद्धि है तो उसे हटाने का शुद्धि का साधन भी हमारे

अन्दर ही है। मृत्यु है तो अमृत भी है। यही बात समझना है। केवल जागृति की जरूरत है। हम जाग्रत रहने मात्र से आगे बढ़ जायेंगे।

स्वगृहे तिष्ठन्ति तस्कराः ज्ञानरत्नोपहारिणः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभः तस्मात् जागृहि जागृहि ॥

— 'हमारे घर के अन्दर ही ज्ञानरूपि रत्न का अपहरण करने वाले, आत्मा का ही अपहरण करने वाले काम, क्रोध, लोभ आदि चोर खड़े हैं। इसलिये हमें जाग्रत रहना है।' केवल जानने मात्र से काम नहीं चलेगा, चेष्टा भी करनी होगी। इस विषय में एक सुन्दर दृष्टान्त है। एक दम्पति सो रहा था। कुछ आवाज आई तो पत्नि ने पति को जगाया और कहने लगी कि कुछ आवाज आ रही है। पति ने भी आवाज सुनकर सहमति दर्शाई कि आवाज आ रही है, कुछ खोलने की आवाज आ रही है। कुछ देर बाद कुछ खींचकर ले जाने की आवाज भी सुना। जाग्रत थे तो सब आवाज सुना ज़रूर, किन्तु कुछ नहीं किया तो चोर सब

कुछ ले गया। ऐसी जागृति से काम नहीं चलेगा। नये-नये साधन की प्रक्रिया के बारे में खूब सुन लिया किन्तु कुछ काम में नहीं लिया तो सब परिश्रम व्यर्थ ही है। आत्मानुभूति का अवसर आया और व्यर्थ में चला गया। इस लिये जाग्रत होकर अवसर का सदुपयोग करना चाहिये। जितने भी साधन पद्धति हैं ये सब जागरण के साधन हैं। जो भी हम कर रहे हैं वे सब अपर्याप्त हैं, ऐसा मानकर चलना होगा। समय बीत रहा है, अतः तुरन्त ही तेजस्वी उपाय करना चाहिये। जितनी तीव्रता से काल हमारा हरण कर रहा है उससे भी अधिक तीव्रता से हमें अमृत का अनुभव करना होगा। यह तीव्रता एवं तत्परता आनी चाहिये। आत्मशुद्धि सूक्त के अन्तिम श्लोक में यही **'तन्निष्ठास्तत्परायणाः'** के बारे में हमने पूर्व में विचार किया था।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

– भ.गीता (5.17)

तन्निष्ठा तो पराभक्ति है। किन्तु पराभक्ति के स्तर में आकर भी तत्पर न हो तो काम नहीं चलेगा। तीव्रता होनी चाहिये। श्री रामकृष्ण परमहंस के जीवनी में आता है कि उनके साधना के दिनों में सूर्यास्त को देखकर वे विह्वल होकर बोल उठते थे कि माँ के साक्षात्कार के बिना और एक दिन बीत गया। ऐसी विह्वलता होनी चाहिये।

दो मिनिट जप, गाड़ी चलाते-चलाते पाठ और सोने के पूर्व बिस्तर पर ही दो मिनिट ध्यान आदि कामचलाऊ साधना से साधना-सिद्धि नहीं होगी।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥

- भ.गीता (2.3)

हम सब हिजड़े बने हुए हैं। आत्मवीर्य का प्रयोग ही नहीं कर रहे हैं। भगवान से यही प्रार्थना करना है कि "आप हमारे अन्दर उस तीव्रता को जगा देना जिससे हम स्व-उद्धार के लिये, स्व-मुक्ति के लिये कटिबद्ध होंगे।"

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

- भ.गीता (5.19)

— 'जिनका मन समभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है।' उसके लिये वीर-धीर बनकर आगे बढ़ना है। अन्त में गीताचार्य भगवान योगेश्वर से यही प्रार्थना है कि हमें इस साधना-निष्ठा के लिये सत्प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान करें।

❖ ❖ ❖

श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य

पूज्य स्वामी श्री ईश्वरानन्द गिरिजी महाराज

द्वारा प्रदत्त प्रवचनों पर आधारित

आत्मशुद्धि

संवित् साधनायन

सन्त सरोवर, आबू पर्वत